महिषासुरमर्दन

पार्थ सारथी

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Parth Saarthi 2025

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7018-642-2

Cover Design: Aman Sharma
Typesetting: Pooja Sharma

First Edition: April 2025

यत्रास्ति जिजीविषा च मुमुर्षा च सहास्ति हि।

हिमवत् स्थैर्यमत्रैव सलिलं यद्वदाश्रयम्॥१

सहृदं यत्र सम्प्राप्य जीवन्नेव विमुक्तता।

तं काव्यलोकमुत्तुङ्गं मम हस्तं गृहीत्व प्रविश॥२

जिस स्थान पर जिजीविषा और मुमुर्षा एक साथ विद्यमान हों, जहाँ स्थिरता हिमालय के समान और तरलता जल के समान होती है।१।

जहाँ सहृदय मनुष्य को इसी देह में ही मुक्ति का अनुभव हो, उस उत्तुंग (उन्नत) काव्यलोक में मेरे हाथ को ग्रहण कर प्रवेश करो।२।

भूमिका

महिषासुर वध की कथा मार्कंडेय पुराण में दुर्गा सप्तशती के अंतर्गत प्राप्त होती है। वहाँ यह कथा तीन अध्यायों में ही समाप्त हो जाती है, जिसमें महिषासुर के आतंक से संतप्त देवगण अपने लोक से च्युत हो भूलोक में विचरने को बाध्य हो जाते हैं। तदुपरांत, अत्यधिक खिन्न होकर वे उस स्थान को गमन करतें हैं, जहाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव समुपस्थित थे। वे अपनी पीड़ा का वर्णन त्रिदेवों से करते हैं। अनंतर, विभिन्न देवों से भगवती की काया का निर्माण होता है, तथा वे देवताओं द्वारा प्रदत्त विभिन्न अस्त्रों एवं आभूषणों को स्वीकार करती हैं।

पश्चात्, चिकुरादि सचिवों का वध कर भगवती महिषासुर का मर्दन करती हैं और देवों को परित्राण प्रदान करती हैं। यही संक्षिप्त कथा सप्तशती में प्राप्त होती है। इसी को आधार बनाकर मैंने इस काव्य की रचना की है। इससे पूर्व भी मैंने ब्रजभाषा में इस काव्य का भाषा-ग्रंथ लिखा था, परंतु वह अपूर्ण तथा अपरिपक्व था, इसलिए उसे प्रकाशित नहीं कराया। किंतु अब, वर्षों की साहित्यिक साधना के पश्चात, मैंने कुछ साहस कर पुनः सप्तशती को आधार बनाकर तात्कालिकता का समन्वय करते हुए इस काव्य की रचना की है। इसमें अनेक परिवर्तन किए गए हैं तथा सृजनात्मक स्वातंत्र्य का सहारा लेकर कथानक का अपूर्व विस्तार किया गया है।

जैसे, पुराणोक्त कथा में शची का कोई उल्लेख नहीं है, परंतु यहाँ काव्य में शची का मुख्य योगदान है। कैलासारोहण तथा तपादिक का समन्वय मैंने परंपरागत काव्य में नवीनीकरण के लिए किया है, जिससे काव्य को उसकी अपूर्वता और मौलिकता प्राप्त हुई है। काव्य में सात सर्ग हैं, जो विविध रसों तथा संवादों से ओतप्रोत हैं, जिससे पाठक ऊब न जाए तथा साथ ही विभिन्न सामाजिक विषयों और द्वंद्वों का भी स्पर्श किया गया है।

प्रथम सर्ग इंद्र के विलाप और पराजय जनित ग्लानि को दर्शाता है। यह संताप और आत्मभर्त्सना हर उस नर की है, जो सामाजिक तथा पारिवारिक अपेक्षाओं को पूर्ण

नहीं कर पाता। किशोरावस्था से ही पुरुष के मन में यह धारणा बैठा दी जाती है कि उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य और सफलता कुटुंब को आर्थिक सहायता देने में ही निहित है। परिणामस्वरूप, वह अपने संपूर्ण जीवन की सफलता अर्थोपर्जन में ही देखने लगता है। किंतु जब वह इस कार्य में तनिक भी शिथिल अथवा असफल होता है, तो ग्लानि और आत्मभर्त्सना जैसी तीव्र भावनाएँ उसके हृदय को आच्छादित कर लेती हैं। वह इतने आत्म-संदेह से भर जाता है कि स्वयं का अस्तित्व भी उसे भार मात्र प्रतीत होने लगता है। उसकी जिजीविषा शनैः-शनैः क्षीण होने लगती है। इसका सामाजिक उदाहरण कृषकों द्वारा आत्महत्या कर लिया जाना है। समाज की अर्थोन्मुखता के अमानवीय दुष्प्रभाव के निरूपण का प्रयास इस सर्ग में किया गया है।

द्वितीय सर्ग निरूपित करता है कि किस प्रकार स्त्रियाँ स्वयं को लघुतर आँकती हैं तथा अपने जीवन का सौभाग्य पुरुष की संतुष्टि में ही देखती हैं। आज भी अनेक स्त्रियाँ अपने जीवन को पाकशाला एवं शयनागार तक सीमित रखने में विश्वास करती हैं और इसी सामाजिक व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ तथा अलंघ्य मानकर अपनी बालिकाओं में इसका प्रवर्तन करती हैं।

किंतु कहीं-न-कहीं, अपने पृथक्त्व की खोज की हूक उनके अंतर्मन में भी रहती ही है। परिणामस्वरूप, यदि उन्हें जीवन में भाग्यवश इसका अवसर मिले तथा उचित पथ-प्रदर्शक प्राप्त हो, तो वे सामाजिक प्रवाह के विपरीत जाकर अभूतपूर्व कार्य कर दिखाती हैं। परंतु इस महत् कार्य की सिद्धि सहज नहीं होती। जो कार्य पुरुष के लिए गोपद-लांघने के समान है, वही स्त्री के लिए सिंधु-तरण के समान दुष्कर सिद्ध होता है।

इसी के साथ, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और उसके पश्चात उत्पन्न जनमानस में उठने वाले तीव्र भावों का संधान करने का एक क्षुद्र प्रयास भी मैंने किया है।

अपने गृह से निष्कासन और उसकी मधुर स्मृतियों के स्मरण से दग्ध हृदय में प्रवेश पाने का प्रयास इस सर्ग में किया गया है।

चतुर्थ सर्ग में संघर्षशील मनुष्य की मनोदशा और उसकी विकलता का वर्णन शास्त्रीयता और आत्मिकता के आधार पर किया गया है। किसी भी साधना में रत मनुष्य का हृदय निरंतर विदग्ध रहता है। यह संघर्ष उसे एकाकी कर देता है, जिससे वह व्याकुल एवं दुर्बल हो जाता है। यह एक हृदय विदारक प्रक्रिया है। साधक की मनोदशा का आंकलन सहज नहीं। साधक का हृदय विचित्र भावों से आच्छादित रहता है। कभी आनंद की लहरें उठती हैं तो कभी नैराश्य के बादल मानस को धुंधरित कर देते हैं। परंतु ये भाव पौराणिक साहित्य तथा कला में कुछ कम चर्चित है। साधन का अंतिम लक्ष्य— सिद्धि ही कला तथा साहित्य में अधिक दृष्टिगोचर होती है।

पाँचवें तथा छठे सर्ग में संग्राम का वर्णन है। यहाँ युद्ध के साथ-साथ मैंने प्राकृतिक चेतना का भी बीच-बीच में बोध कराने का प्रयास किया है। शास्त्र वर्णित विराट स्वरूप को मैंने अधिक सौंदर्यात्मक तथा भावात्मक बनाने का यत्न किया है।

अंतिम सर्ग युद्ध के पश्चात उत्पन्न परिणामों का निरूपण करता है और मनुष्य-सभ्यता के एक मूलभूत प्रश्न से जूझता है—क्या युद्ध वांछनीय है? युद्ध, मनुष्य के इतिहास में सर्वदा उपस्थित रहा है। युद्ध में ही मनुष्यता का सर्वाधिक पतन दृष्टिगोचर होता है। युद्ध के समय, बुद्धिजीविता का आवरण ओढ़े मनुष्य का पाशविक रूप पूर्ण नग्नता के साथ परिलक्षित होता है। यह प्रश्न बार-बार मनुष्य को व्यथित करता है कि—युद्ध सामाजिक विपदाओं का सहज एवं सुगम हल है, अंतिम विकल्प है, या मात्र उसकी स्वार्थपरायणता का परिणाम?

इन प्रश्नों तथा द्वंद्वों को संबोधित कर मैंने रचना में उचित गाम्भीर्य प्राप्त करने का प्रयास किया है।

मेरा यह प्रयास कितना सफल हुआ है, इसकी कसौटी तो विद्वज्जनों का हृदय ही है।

काव्य शिल्प चिंतन

काव्य की गंभीरता तथा स्तर बनाए रखने के लिए मैंने इस काव्य में मुख्यतः संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का ही विनियोग किया है। इसका प्रयोग शुद्धता या पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि काव्य में गरिमा एवं गंभीरता लाने के लिए किया गया है। रचना क्लिष्ट एवं दुर्बोध्य न हो जाए, इसलिए यथास्थान सरल पदावली का भी प्रयोग किया गया है।

काव्य का विषय व्यापक है, जिसके कारण पुनरावर्तन-दोष से बचने हेतु मुझे अप्रचलित पदों के प्रयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई। शिल्प एवं शब्दों के साथ मैंने काव्य में यत्र-तत्र विविध काव्यात्मक प्रयोग भी किए हैं, जिससे कहीं-कहीं लय तथा यति में असमानता भासित होती है। इसका एक प्रमुख कारण काव्य का छंदमुक्त होना है।

छंदबद्धता सौंदर्य की एक विधा मात्र है, परंतु मुक्तक छंद का भी अपना एक स्वाभाविक प्रवाह एवं आकर्षण है, जिससे वह हृदयग्राही बनता है। यद्यपि मुक्तक छंद में भी कुछ बंधन होते हैं, किंतु वे अधिकांशतः शिथिल हो जाते हैं, जिससे काव्य-पयस्विनी का प्रवाह और अधिक सहज एवं स्वाभाविक बन जाता है।

ग्रंथ में विशेषण-भिन्नता ने मुझे यत्र-तत्र विचलित किया है।

पद्य एवं गद्य दोनों में कहीं-कहीं स्त्रीलिंगसूचक विशेषणों में विभिन्नता दिखाई देती है, जैसे— ‘अबला नारी’। ‘अबला’ पद तो गद्यगत है ही तथा सर्वत्र ‘अबला’ पद का ही प्रयोग होता है, परंतु अन्य विशेषणों में इसका प्रचलन अब नहीं है, जैसे— ‘आकुलिता धरणी’ के स्थान पर ‘आकुलित धरणी’ का प्रयोग सामान्यतः किया जाता है।

किंतु प्रवाह एवं सौंदर्य को ध्यान में रखते हुए, मैंने विशेषणों के प्रयोग में काव्यगत स्वतंत्रता ली है तथा यथास्थान उभय रीति का अनुसरण किया है।

अनुक्रमणिका

सर्ग १ 1

सर्ग २ 16

सर्ग ३ 25

सर्ग ४ 32

सर्ग ५ 48

सर्ग ६ 60

सर्ग ७ 82

काव्यानुभूति 101

सर्ग १

एकदा विकराल काल में, हुई पराजित श्रीहत;
श्रांत, भ्रांत, क्लांत-काय अमर-निकर, वीर्यविहीन।
हुए लोक सकल शोक-सिंधु में लीन, जैसे होता कोक
समाज क्षणदा-सूचिभेद्य-ध्वांत-राशि में विलीन॥

दलित, निकृत, विगत-वैभव, शोक-संतप्त अति,
मर्त्य-लोक में डोलते, खोजते दर-दरी, विजन कोई।
किरीट-वर्जित, अपमान गर्त में पतित होते सतत;
था न जगत् में दिखता उद्धारण-शक्य कोई॥

वितुंडित विमद वारण-प्रवर सम; मथित मन थे हो रहे,
दनुज-महोरग भीत सुर-शशक थे हिमगिरि में दुरे।
सुचिर दुस्वप्न था यह चलता अनवरत अबाध,
था नहीं कोई जो सकता इससे उन्हें उबार॥

थे निषण्ण नभनायक, अधोमुख चल-दल-तल पर;
रण-व्रण-विद्रूपित रुग्ण-काय, गतिविहीन अशक्त।
खंड-खंड-विखंडित था कुलिश, जर्जरित व्योमयान;
बैठे थे निकट, सारथ्य-दक्ष मातलि — स्वामी-भक्त॥

थीं छनकर भास्कर-कर तरु-किसलयों से पड़ती,
रक्तसिक्त अंगों पर, तो लगते थे वे अधिक पिसंग।
अश्वत्थ-दल के समान, छाई थी उर में अदम्य श्रांति;
क्लांत-कलेवर ले तने का सहारा; थे अतीव तन्वंग॥

छोड़ते थे गम्भीर उच्छवास , अर्द्धनिर्मीलित नयन थे,
चिति और अचिति के मध्य थे सुप्ति हिंडोला झूलते।
सूखा जाता कंठ था, धमनियों में भी मानो न लहु शेष था,
कभी लगती थी क्षुधा-पिपासा, कभी उन्हें भी जाते भूल थे॥

सहसा मधुर नूपुर घोष कोई आ घुला श्रवण-पुटों में,
जो लाया उन्हें बाह्यजगत में खींच कर बलात्।
देखा शची को आते जो गयीं थीं भिक्षाटनार्थ,
जीर्ण अंचल में भिक्षा थीं कुछ लाती स्यात्॥

विलोक निज वल्लभा का विशीर्ण-विधु-वदन,
विगलित वनजात चरण चोटिल युगल।
तरलित हुआ अश्रु लव अवसाद भरित,
ग्लानि पूरित हुईं देह धमनियां सकल॥

“हा मातले! देखो तो इंद्राणी की यह दुर्दशा
धिक्कार मेरे पुरुषत्व पर — धिक-धिक मेरा यह जीवन।
धिक्कृत है ऐसा प्राण-मोह, धिक श्वासोच्छवास यह;
धिक्कार, हह! मुझ अधम नपुंसक को प्रति क्षण॥”

“मुझसे तो श्रेष्ठ हैं वे नगरवधुएँ जो—
निज देह व्यय कर, अपना उदर-भरण करती हैं।
देखो मुझ स्त्रैण को, जिसकी उदर-पूर्ति — हाय!
भिक्षा माँग-माँग विवश, उसकी दारा करती है॥”

“हा! यह है वही गजगामिनी, जो मद-भरी कभी
अमरावती में साथ मेरे विचरती थी।
जो विराजमान हो वर-वारण पर, आपाद-भूषिता,
मुकुलित-इंदीवर-मुखी संग मेरे विहरती थी॥”

“प्रासाद में अलि-किंकरी-मंडली आवर्तित,
निशंक मयंकमुखी, यही हास-परिहास करती थी।
कंचन-कृत काञ्ची, क्वणित कंकण से शोभिता,
श्रवण-प्रसादक रव से, जो अजिर गुंजरित करती थी॥”

“आज वही, विषाद-वारण-चरण-दलिता लतिका-सी,
विवश, पीड़ित, उल्लीड़ित चरणों से ग्राम-ग्राम डोलती।
हा मातले! कैसी है यह धैर्य-सहनशीलता की प्रकट विग्रह,
वहन करती पति की पराजय, वचन नहीं इक बोलती॥”

“हा! असह्य है इसकी यह मूकता, इसकी तितिक्षा यह,
क्यों नहीं कर उर-ताड़न, मुझ किंपुरुष को कोसती?
क्यों नहीं धिक्कारती मेरी इन आजानु भुजाओं को?
क्यों नहीं द्वंद्व-अपगामी चरण-युगल को कोसती?”

“हह! नहीं मैं अधिकारी इस अहैतुकी सेवा का;
अधिकार मुझे इस भक्ति का, इस समर्पण का कदापि नहीं।
मलिन-मुख पर इसके, मौन भी मुखरित हो उठता है कैसा —
अश्रु एक दृगांत उत्थित, शोक-सागर से कम नहीं॥”

"हा! मरण भी तो मुझ धिक्कृत का संभव नहीं,
लोक-ईप्सित अमरत्व से ही मैं अभिशप्त हूँ।
खा-खाकर ठोकर, पी-पीकर अपमान-गरल,
बुभुक्षु सूकर-समान, मैं अद्यापि अतृप्त हूँ॥"

"सकल-संताप-निवारिणी, शोक-सागर-तारिणी,
वह सौम्य मृत्यु-कामिनी, दुराप है कैसी!
स्नेहिल-स्पर्श-युता, करती है मुक्त अंक-दे निज;
दारुण दुःख से जो — वह तो है वत्सला मात जैसी॥"

"जो हो अप्राप्य मुझे मृत्यु-उत्संग तो—अयि मात अदिति!
आप ही लीजिए मुझ निर्लज्ज को, छुपा निज अंक में।
किंतु दे पाया कहां मैं आपको भी परित्राण, मदम्बिके!
उस सदा-विरोध-रता दिति के निर्दय वंश से?"

शचीपति के विषाद-भरित वचन सुन बोले मातलि—
“सुराधिपते! क्यों करते हैं शंका निज सामर्थ्य पर?
होगा कौन शूर जगत में, जिसने चखी नहीं रणधूलि हो?
जो उठता है पुनि हुंकारता — वही तो है वीर-वर॥”

“पूर्व में भी बहुशः काल को तृप्त किया है आपने,
अनेक दुर्दांत देवद्रोहियों को युद्ध-याग में अर्पित कर।
वृत्रासुर-फण-दमन करने का सामर्थ्य था और किस में?
त्रिलोक-शोक हरा आपने, त्रिशिरा के मुंड भेदकर॥”

“प्रभो! करती हैं प्रेम पौलोमी, आपसे — ऐश्वर्य से नहीं,
है प्रणय भावना उनकी — अक्षय, आप में, नाकनाथ में नहीं।
रखिये न आत्मसंदेह एक क्षण को भी आप कदापि,
रंचमात्र नहीं रोष उनमें, पराभव पश्चात् भी क्षीणता प्रणय में नहीं॥”

आ गईं सहसा पुलोमजा — इस गंभीर वार्ता के मध्य ही,
सुमधुर ईषद् हास था — उनके आस्य पर प्रकट।
देखते रहे नैराश्य-भरे विबुधवर — निर्निमेष शची-वदन,
लगता था — म्लान मुख वह शत्रु आयुधों से भी विकट॥

कुछ होती न थी वचन-रचना — बैठी थी जड़ित रसना—
तालु का परिरंभण किये — लिये दशन पट ओट।
हुआ जाता था असह्य निज अस्तित्व ही प्रतिक्षण,
अपना मौन ही करता था हृदय पर घातक चोट॥

तब अधरों पर धरा करुण रस — व्यक्त होने को आतुर,
स्रवित हो गया — अचल नयनों से, अस्र कणिका बन।
करुणा का सार लिये वह सीकर, था महासिंधु, बिंदु नहीं,
भय, विषाद, रोष, ग्लानि, धिक्कार से — था बना सघन॥

प्रिया-क्लेश का कर विचार — फेर लिया मुख सुरोत्तम ने,
निःश्वास छोड़ — तत्काल वदन-रचना करी पहले सी।
“लायी हो क्या प्रिये?” — बोले मंद्र विथकित वाणी में,
थी जो जर्जरीक-हतनींव — खंडहर की प्रतिध्वनि जैसी॥

सहसा हुई दृष्टिगोचर शची को, शक्र दीर्घ दृगाम्बुधार वह—
जलधि-ज्वाला-जुष्ट, जो अभिव्यक्ति सुर-उर की थी विचित्र।
तब देखा पुनि प्राणवल्लभ का अप्रभ वह आनन—
यह प्रिय का मुख है या सृष्टि-प्रलय के अंत का चित्र?

नहीं! नहीं! उसमें तो उठते थे विकराल प्रलय के —
चक्रवात, भूकंप, सैलाब, प्रलयंकर द्युतिधर प्रतिक्षण।
थी शिथिल अलकावली—प्रलय-वारिद-सेना समान,
कम्पायमान विवर्ण अधर ही था मानो धरा का प्रकंपन॥

चकित चक्रित चपल चक्षु थे, भीषण चक्रवात सम।
जाज्वल्यमान हृदय न था और्वानल से कुछ कम॥

तप्त श्वास-उच्छवास था—दग्ध क्षय-प्रभंजन सम,
प्रवंचक हास्य ही थी लास्यनिरता भयंकरी दामिनी।
हुआ प्रतीत मानो मघवा मुख, जोह रही हो प्रथम बार शची—
नहीं यह वे प्रियतम नहीं, जिन्हें जानती थीं सुर-स्वामिनी॥

व्याकुल, सत्वर वे बैठ गयीं पुरंदर के सन्निकट—
"प्रिय हुआ क्या? क्यों यह अकारण रोदन?
है क्या कष्ट अधिक आपको? इससे पूर्व तो,
देखा नहीं आपको करते यूं बालक-सा क्रंदन!"

हठात् मोड़ती शक्र मुख शची अपनी ओर बार-बार थीं,
फेर लेते निज मुख सुरेंद्र आत्मलज्जा के भाव से।
जैसे घृणित कृत्य निज कोई, आ जाये प्रिय के समक्ष,
थी वैसी ही शक्र घृणा, जो होती है तब अपने आप से॥

बाल-पीड़ा हेतु न जान, लगती रोने स्वयं मात है यथा,
त्यों ही लगीं रोने शची, जब शक्र विक्रोष हेतु सकीं न जान।
था यह कैसा विचित्र उदय वात्सल्य का प्रणय-भाव में,
जहाँ था न प्रणय-रोष रंच, न था प्रिय से कोई मान॥

देख देव-दम्पति को विषाद-वारिधि में असहाय डूबते,
बोले अति द्रवित होकर, तत्काल सदय मातलि—
"अहो देवी! हैं सुरेश समर-पराभव-वश, ग्लानि से भरे,
जिजीविषा क्षीण होती क्षण-क्षण, मुमूर्षा है इन्हें खा चली॥"

“आपकी दशा देख, प्रबलतम हो रहा इनका क्षोभ है,
धिक्कारते निज जीवन को, रिपु अपने ही बन!
दुःख-झंझावात से है धुंधराती प्राण-ज्योति इनकी,
आप ही रोक सकती हैं, इनके लोप-लोलुप स्व का विघटन।।”

“प्रियतम! नहीं प्रिय मुझे स्वर्ग-पद, न ही सिंहासन है।
है निस्सार सकल जग मुझको, आप ही मेरे प्राणधन हैं।।”

“प्रेमी का धन है प्रिय ही, जो निरखता नित्य है;
प्रिय का प्रसन्न वदन, उसके लिए तृणसम संसार है।
शत-शत अनुचरियों के मध्य भी, महिषी का उर,
रह जाता है अकेला; फंद बन रह जाते कंठहार हैं।।”

“हृदय-व्रण आवृत हो सकते नहीं कौशेय वास से,
आत्मा के तिमिर को मिटा सकते नहीं हैं मणिदीप।
बन जाती हैं नवल किसलय-पर्यंक, शित-कंटकमय,
जब जीवन-सर्वस्व प्राणरत्न, प्रियतम हो न समीप॥”

“निस्संकोच वार सकती हूं कोटि कलधौत के धामों को,
आपकी एक मित मुस्कान पर, बार-बार— अहो!
त्याग दो क्षोभ, हा प्रिय, मुझे कोई क्लेश नहीं;
पूर्ववत् ही करो परिहास— अहह! कुछ तो कहो॥”

निशम्य शतावरी-संतावना-सयुत वचन, बोले पुरंदर—
“शची! मिटती नहीं ऐसे मिष्ट वचनों से जीवन की कटुता।
थी बातें ये सोहती विजय पश्चात पुनः मिलन पर,
दिखाना माधवी-मुग्ध वेला में व्याज-वचन-रचना-पटुता॥”

“प्रिय लगते हैं ये सब, जब सिर पर हो हेम-वितान;
ये हैं केवल बातें— कवियों की, मन बहलाने की!
कहना यही जब बरसें निघोर नीरद, हो करक-घात,
जब गरज उठे तड़ितें, और न हो ठौर सिर छुपाने की!”

“जब क्षण-क्षण हो प्राणों पर मंडराता काल का भय,
तब कौन प्राणधन? कौन प्रियतम? कौन देखे किसका मुख?
जब जठराग्नि से जलता हो हृदय, तब हो जाती है सत्वर—
अनुराग-वास घनसार कणों सदृश विलीन परिमुख॥”

शक्र-वदन-निर्गत वचन सुन, हुआ आत्मसंदेह शची को—
क्या हैं मेरी बातें केवल बातें? यथार्थ और जीवन से दूर?
क्या हूं मैं मूढ़ा, यथार्थ से अपरिचिता अब तक?
क्या हैं मेरे कथन तत्त्व से सर्वथा विहीन— विगतमूल?

नहीं! आत्मा मदीय तो तृप्त है! उत्कंठित हैं प्रिय ही!
है ऐसा क्या, जिससे समान स्थिति में भी मैं यथावत हूं रही?
क्या किया प्रिय ने अनुभवित, जिससे मंद राग उनका हो गया,
स्यात् मैं प्रेम में ही पूर्ण हूं और प्रिय में इच्छाएं कई हैं रहीं?

"जो है ऐसा, तो करुंगी वह जिससे सस्मित वदन तुम्हारा हो!"
— हुआ अनुगूँजित पौलोमी-प्रतीक्षा का सुदृढ़ निःस्वन।
"आप रहें यहां सुराधिप के साथ, सुश्रूषालग्न, हे मातलि!"
कर अनुरोध यह, शची ने किया पुनः विपिन-प्रांत को गमन॥

रह गए पीछे पुकारते पुलोमतनया को शक्र-मातलि चकित।
विपरीतगामिनी सरिता-सम पुलोमदुहिता बढ़ गई अविरमित॥

सर्ग २

तब सकल निर्जर-कलत्र, हुईं मानसरोवर निकट एकत्र,
शची-निवेदन पर, विषण्णवदना, विक्षीर्ण तनुकाय।
सकल सौंदर्य-संपदावती निराभरण थीं खड़ीं—
मानो हो धूमिल क्षाम निम्नगा-निकाय।।

वे जित-जल-जीवन लोल-विलोचन,
जो कल्लोलमान थे हाव-भाव की हिलोरों में।
आज निशांत-नमित विलोक उन्हें,
भर आया वारि शक्रप्रिया के दृग कोरों में।।

कहाँ गयीं वे मुख की मधुमधुर मित मुस्कानें?
श्यामल वदन-वारिद में मानो क्षणप्रभा-सी लुप्त रहीं।
ये हंसिकाएँ जो थीं आनंद-सर में कल-केलि-परायण—
रुद्ध है गति, मानो इनकी; स्पंदन भी मानो उर में नहीं।।

नंदनवन में करते विचरण, श्रमित चरण होते थे जिनके,
आज संतप्त हैं— विचरतीं विकराल वन-वन।
जो थीं परिहास-परायण, विलास-तत्पर, सीधु-मत्त—
रुग्ण कलेवर लिए आज विलपतीं दुर्मन।।

कलंक अंकित म्लान आनन, अपमान भार भरित हृदय,
भूत-स्मृति लिये पीतीं क्षण-क्षण प्रधर्षण-हलाहल।
कमल-दल-पर्यंकशायिनी— बिस भी था जिनको शर-सम,
आज हैं करील-कंटकों से ठाँपते, निशा में विवर-वदन।।

प्रियतमों के तनिक तूर्ण व्यजन-संचालन से,
हो जाते थे वेपथित जिनके सुपेशल गात।
आज हैं सहतीं विवास, उच्छवास छोड़-छोड़,
उर-स्पंदन-शमन—हिम-करक-घात, विपरीत वात।।

देख दुर्गति उनकी उठी तीखी टीस उर में, निरुद्ध कंठ से तब किया निवेदित—
“सखियो! तुम सब तो हो जानतीं, समर में अमर-गण-पराजय है हुई।”
“वंचित हो हम स्वलोक से, भटकते संतप्त शोक से,
चतुर्दिक हाहाकार है मचा; श्रांति सकल जग में छाई है हुई॥

“पूर्वकृत तपबल-स्वरूप, वरदर्पित महिष–असुर-भूप,
किसी पुरुष से पराजित होता नहीं; कारण यही, देवत्रय भी अशक्त हैं।“
तब मध्य में ही बोल पड़ी एक शंकिता सुरबालिका—
“तो क्या अब छिविधर चाहते, रण में बहाना हमारा रक्त हैं?”

“हम वीणा-वादन-विदग्ध देवियाँ, क्या सम्भालें करों में कृपाण?
धरें करतल पर निज-प्राण? हों आरूढ़ समर कराल में?”
“चाहते हैं सुरेश्वर या फिर— नाना रति भंगिमाएं कर प्रदर्शित
दनुजात दल को कर विमोहित, बाँध लें कांत-काञ्ची-जाल में?”

सुन क्रोधपूर कटूक्ति यह, क्षण एक, स्तम्भित निर्वाक् रह गईं पुलोमजा।
ततः पुनः मधुर गिरा में कहने लगी—"अयि मुग्धे! ऐसा तो मैंने कुछ कहा नहीं।"
"स्मरण रखो कि अमरवर को, मुझसे भी प्रियतर हो तुम सभी,
कभी न होने देंगे अनहित तुम्हारा, निज प्राणों का भी करेंगे मोह नहीं॥"

"हमने खोए केवल मणिमहल-क्षौमवसन, सुराधिप का खो गया हृदय का स्पंदन,
है जो स्थिति अमरपति मानस की, हा! वह तुमसे कह भी न सकूँगी।"
"सोहती तू तब नहीं, निरंकुश निर्विचार, करती माहुर-सम विप्रिय वचनों का उद्गार,
तुम पर संधानित सायक को— आ आगे मैं सर्वप्रथम सहूँगी!"

"होती है ज्यों कुसुमित पल्लवित, कोई वल्लिका तरुवर की छाया में,
त्यों ही हम बनीं लोक-प्रशंसिता, सुर-कुल के पूर्ण संरक्षण में।"
"उन्मूलन-आतुर असुर-व्याल है, आज उसी अक्षय अवनिरुह को,
तो क्या नहीं दायित्व तनिक हमारा, उसके प्रति इस प्रतिकूल क्षण में?"

“जिस अमल पुष्कर-चलोर्मिजाल पर, शयनरत थीं हम पंकजिनियां,
वही निशिचर-निदाघ खर-कर शोषित, क्षीण-क्षीणतर होता जाता है।”
“उचित नहीं कदापि तब कार्पण्य-प्रदर्शन, हम प्रगल्भाओं के द्वारा यूं,
विपद्काल में ही तो त्रसित मन, प्रियजनों का रुख चाहता है॥”

“जरा-रुज-पतनोन्मुखी मानवी भी, निज प्रणयी को देख संकटापन्न,
आत्मोत्सर्ग है करती अविलम्ब, ढाल उसकी सप्रेम बनती है।”
“देखो, वह मानसालया मराली भी, निज प्राणेश विप्रयोग पाकर,
निस्पृहा तपस्विनी-सी सत्वर, निज प्राणोत्सर्ग करती है॥”

“तो कहां उचित यूं हम देवांगनाओं का–अबला, अज्ञा, भीरु-सम कातर क्रंदन,
दुर-दुरकर दराओं में करना, आगत-भीत अनागत से डरना?”
“बीत गये वे स्वप्न मधुर, रुंध गयीं वे वातें वासंती।
सुमन-सेज की सुधि न करना– शूल-अयन पर अब होगा चलना॥”

विचित्र वचन वे विस्मित हो सुनती रहीं; वे अभूत भाव हुए थे श्रोत्रगोचर नहीं,
वह गम्भीरता, वह आत्मोत्सर्ग का भाव, न था पूर्व शची-वदन पर आया।
तत्काल विषय-गाम्भीर्य को समझ, पूछने लगी एक निर्जर-जाया—
"देवि! किस कार्य-सिद्धि हेतु, कहिए, आपने है हमें बुलाया?"

"हम निबल करेंगी किस विधि, आगत आपदा का निवारण?
विजय पाएँगी कैसे दुष्ट दल पर? जिनसे रण-प्रवीण अमर भी पाए न जीत।"
"न सयुत हैं हम संयुग-कौशल से, न है हममें वह क्षिप्रता, न कौटिल्य"
यह तर्कना सुन बोलीं शतावरी, कृत निज वाणी विनीत॥

"विवश कदापि करुंगी नहीं तुमको, दनुज दल संग संगर करन को,
वह तो होगा तप्त मरुस्थली में, स्वाति-कल बिंदुओं को उतारना।"
"के क्रूर बुभुक्षु केहरी पुरतः बलात्, मृग परिकर को कर देना खड़ा,
विकट निर्निगड़ वैरी वारण को, बांध पायेंगी हम सौम्य लतिकाएँ नहीं॥"

"तो क्या छल से व कुटिल कौशल से, क्या धरें अधरों पर गरल हम,
करें निदान दे, दृष्टों को अधरदान, या किसी अन्य व्याज लीला से?"
"हे जयवाहिनी! कहिए कैसे, यह चिर-चिकीर्षित मनोरथ,
होगा सफलीभूत, पूत भूवलय होगा?"– पूछा आतुर अन्य ने पुलोमतनुजा से॥

"यातु-यूथ यह युक्ति या यत्न से किसी, वशवर्ती होगा नहीं, सचेत हैं अति वे,
यों भी कतिपय यूथपों के वध से, सम्भव नहीं–पूर्ण जय, फिर होंगे आ खड़े वे यहीं।"
"तिमिर संकाश रिपु विकराल है, चंद प्रदीपों के प्रज्वलन से मिटेगा नहीं,
किंतु हो सम्बल जो कोई मित्र सम, तो विजय कदापि कठिन नहीं॥"

"इस वक्र विकराल काल में, है देवि! कौन भास्कर-सा भास्वान?
दृश्यमान नहीं ऐसा बलवान कोई मुझे"– पूछा उसी प्रगल्भा अप्सरा ने।
"हैं शक्त केवल जगदम्बिका पराशक्ति, दर्पमुग्ध देवों ने उपेक्षा की थी जिनकी,
तब ही यूं वीर्यहीन श्रीहत हुए," सावेग उद्गार किया पुलोम-तनया ने॥

पुनः प्रमुदित कर जगज्जननी को, हम होंगे प्राप्त पूर्व गति को,
किंतु है यह साधन सुदुष्कर, आरोहण करना होगा कैलास-शिखर तक।"
मानस-पुष्कर में प्रथम मज्जन कर, तन-मन निज पावन कर,
आर्त निर्व्याज स्तवन कर, अनशन करना होगा सिद्धि तक॥"

संयुग-कर कहती हूं तुमसे, अवलम्ब अपर मेरा नहीं कोई,
दुरूह कार्य का आरब्ध भी, अकेले कदापि होगा न मुझसे।"
साधे हैं पूर्व में बहुशः तुम सबने, कार्य दुस्तर अमर निकर के,
बारक फिर अवलम्ब बनो तुम, क्या कहना शेष रहा अब तुमसे?"

इतना कह वेपथित शची-अधर, हो गया अविचल ओष्ठ-कीलित,
आशंसित सुमुखर लोचनों से, देखने लगीं वे अमरललना निकर को।
ग्लानि-भार-भरित निरुद्ध वाणी, चतुर्दिक तब सुरवधुओं की छा गई—
"देवि! हम हैं अधम अनुचरियां आपकी, समर्पित है हमारा सर्वस्व आपको॥"

हम तो हैं स्वार्थपरायण विलासनियाँ, निज-लाभ-लग्ना, भोग-मग्ना,
आप हैं मनस्विनी वैराग्यशेवधि, हममें विरागता का जल-लव कहां?"
क्या आ सकता था हमारे मन में कभी, यह साहस लोकोद्धार के लिए?
दीजिए निदेश सुरेश्वरी, करेंगी अनुगमन, हम सदा आपका, आप जाएंगी जहां॥"

निशम्य समवेत गिरा स्निग्ध अतीव, शतावरी-वदन पुनि हो उठा सजीव;
उर-उदधि हो उठा अनंतर, उत्साह-उर्मि उपीड़ आचित।
क्षोभ-कर्शित म्लान आनन, शिरीष-कानन सम मुकुलित हो उठा;
नील तृणावती सरिस श्याम काया, हो उठी विपुल रोमांचित॥

रिस चला चंद्रकांतोपम लोचन से, तरल उष्ण लोच-सीकर एक,
स्निग्ध कपोल पर निर्भीक खेलता जो, चिबुक तक आते-आते कहीं गया खो।
सायास गंभीर गिरा में तब, बोलीं जयवाहिनी परम-हर्षित—
"तो चलो कर मज्जन मानसरोवर में, नाप दें हम इस लघु कैलास को॥"

सर्ग ३

तब पुष्कल-विमल-जल मानस को, कर आवर्तित, ऋज-मानस यौवत वह—
हो गया खड़ा; थे ऊर्जित-उर उनके, विविध भाव-विभावों से भरे।
निर्निमि-मंडलित विलोकने लगा, उन्हें समुत्सुक मानसायतन हंस-वंश—
कर-कर कल-निनादन मानो — देते कर-तालिका, रचते पक्षों से लहरें।।

सितपक्ष-संभव-सीर-समीरण, सरसीरुह-सानु-स्पर्श-सुरभित,
छू-छूकर पेशल अवयवों को, छोड़ जाता रोम-रोम प्रति पुलकित।
प्रथम पौलोमी सहज गति से, हुईं प्रविष्ट प्रांजल-पुष्कर में;
पा रुख तब सर्व देवांगनाएं भी, उतर गयीं मानस-सर में अविलम्बित।।

यों विलोक करता निमज्जन निज नीर में, मानो सुमुदित हुआ जड़ सर वह भी,
विकच-सुवर्ण-सरोज ही मानों थी पुलकित रोमावली, मुखर हंस-वंश-दशनावली।
विचल-वीचि-व्यूह ही था, वेपमान-वपु मानो उसका,
वल्गु-विधिवाहन-स्वन ही, मानो थी उसकी आशीर्वचनावली।।

हुआ पद्माकर में प्रविष्ट परिकर ज्यों, हंस-द्वार से सुगंभीर घोष त्यों,
हुआ प्रादुर्भूत, व्याप्त हो गया जो, अनंत में, अम्बुद-माला में करता झंकार।
नर्दित-प्रतिनर्दित सर्वदिक दरदारादिक में, मंगल-कर्णप्रिय-निर्घोष वह हुआ,
मानो था वह समुत्सुका धरणी कृत कम्बु-नाद, सत्साहस-समवर्धक।।

सुन वह वल्गु-रव पौलोमी, द्रवित-चित्त से कहने लगीं—
"दृष्ट-दल दुःखिताकुलिता क्षिति, मानो करती है संकेत-संहूति।
चलाचल-बलाबल सकल मानो, निज श्रेय हममें है देखता,
तो अविलम्ब चलो, बढ़ो आगे, त्यागकर सकल संशय-भीति।।"

तदुपरांत अजर-कांता कुल वह, अग्रसर हुआ कैलासायन पर।
शैलेय-संचर पर बढ़तीं, धर-धर चरण निज सुपेशल।
चुवती चीर्ण-चीरों के छोरों से, विपुल वारि-धार शीतल।
रह-रह अगणित धार बरसाते, कुंचित केश-कुल नील-श्यामल।।

किसलय-कल्प चरण-चारण-भव, हिम-कर्दम पर फिसलतीं,
बढ़तीं गह-गह परस्पर कर, अम्बर आगे बढ़ती जातीं,
क्षीर्ण-चीर्ण वासों से, निज तन ठांपतीं।
कांपती किट-किट दशनावली, ठाढ़ी ऋज श्याम-रोमावली,
थे कलेवर कम्पित, कूणित, शीतकर्शित, चली जातीं थीं बंधुर पथ नापतीं।।

सुन विवर-वर्धित वारिद-स्वर, बद्ध-लोचन चकित रुक जातीं,
शरभ-शार्दुल हुंकार सुन, भीत चितवन चतुर्दिक फिरातीं।
क्षिप्र-श्वसन करती कोई श्रांत अति, कोई रुकती, चलती, पुनि रुक-रुक जाती,
कोई होती हिमलुंठित, उठती डगमगाती, कोई 'हा हा' कर शचि को बुलाती।।

कोई होती वदनध्रूम, विपथित भ्रमात्, कोई उसे पथ पर खींच पुनि लाती,
त्रस्त दृगों से देखतीं शेष नग-मग को, परस्पर कंधरों का दे सहारा बढ़तीं-बढ़ातीं।
घृष्ट पदों पर जो लगता शैलेय-लवण, तो सहसा हो व्याकुल, उठा लेतीं निज चरण,
रक्त-प्रपद-अंक पूरित हो गयी, गिरिनायक-किरीट कैलास की छाती।।

यूं देख क्लेशित काय सबको, कहा शची ने कर संकेत, एक विवर को—
"अस्तातुर है अर्क, अलियो! निकट निशा है, आ चली।"
"यहां कर विश्राम, हो विगत-श्रम, दिनमुख में गमन पुनः करेंगे हम"
इंद्राणी निदेश पाकर सपदी, प्रविष्ट हुई कंदरा में कामिनी-मंडली।।

वहां शिला-शयन विपुल पाकर, लगीं लेटने ललनाएं वे जा जाकर,
पुष्प-पर्यंको से कोमलतर, उन्हें लगते वे प्रस्तर-शयनीय।
विथकित थीं वे सब ऐसे, युगारब्ध से रहीं चलती हों जैसे,
श्लथ थे चूल, दुकूल, फूल-से अँग, विदूषित थे सकल आस्य कमनीय।।

शीतग्रस्त ऐसे थे उनके कलेवर, उष्ण लगते थे उन्हें वे प्रस्तर,
प्रबल उदर-अनल-ताप से ही, तन थे उनके उष्णित किंचित।
कुछ जागृत, कुछ सुप्तिरत, कुछ जड़ित-शिथिल, कुछ चेतन-अवचेतन,
सुश्लेषित परस्पर, लता-संकुल-सी, कुछ मुहूर्त रहीं वे शयनित।।

जब बीत गया प्रदोष-काल, जागा वह तंद्रित कामिनी-कषाल,
दीप से लपझपाते उनींदे लोचन, थीं उलझी मुक्त-केशावली।
अलसिता थी कुछ-कुछ छाई, जृम्भितमुख लेतीं अंगड़ाई,
शिथिल देह, वसनों को सम्भालकर, यत्र-तत्र वे विमूढ़-सी देखने लगीं।।

विवरमुख-निकट शिला आसीन, थीं पौलोमी, कुछ शोच-विलीन,
चंद्र-किरणों से था मुख चंदित, सिंधु-सम था वदन-विश्रांत।
प्रभंजन-प्रेरित लटें दो-चार, जातीं झूल कपोलों पर बार-बार,
दृष्टि अनंत में खोई थी कहीं, नीर-निचित थे स्यात् नयन-प्रांत।।

यूं देख ऐंद्री को एकांत-स्थित, निकट बैठ गईं वे हो मंडलित,
जब इंद्राणी-वदन-भाव-रेखाएं, रहीं अपठनीय, विपुल आयासों के भी पश्चात्।
तब सरल भाव से एक लगी पूछने, उस दूभर मौन को तोड़ते—
"यूं अकेली क्या हैं सोच रहीं? विश्राम भी नहीं किया आपने, स्यात्।।

शैल-विवर में प्रतिध्वनित होते बारंबार, शब्द वे शची-उर-दर में करने लगे झंकार,
यकायक, चकित चितवन से वे देखने लगीं, गंभीरता हुई लुप्त, मुख पर खेल गया एक ईषत्हास।
“उठे मुझे हुई हैं घड़ी एक-दो, सोचती कुछ नहीं, निहारती हूं स्वच्छ गगन को,
देखो, स्पष्ट छवि कैसी है आकाशगंगा की, कैसा है मनोहर नक्षत्र-माला का विकास।।

“निहारिका-ललंतिका अलंकृता यामिनी, कृत-कादंबिनी-दुकूल-छन्न कामिनी,
निशंक निशांक, निषण्ण नव-शशांक है, खेलती जुन्हाई धवल शिखर-प्रस्तर पर।”
तब वे लगीं देखने निशाश्री को हो तन्मय, लोचन थे मानो उज्जृभित नलिन-निचय,
निज सरल-तरल चितवन से सहज ही, नांप डाला उन्होंने सुविस्तीर्ण अम्बर।।

“देवि! माना है नक्षत्र-निकर यह मनोहर, पर निज अटाओं से लगते थे यही सुंदरतर”
बोली सुदारुण स्वर में एक सुरबाला— “ना जाने कहां गई इनकी वह शीतलता!”
“अनंत लगता है कुछ कूण-काय, गत-रस निबद्ध हैं मानो नीरद-निकाय,
निशांत-निशा की सुन-सुन सुमंद-सीत्कार, मन मदीय बार-बार है विचलता।।”

“हो, सत्य कहती तुम, सजनी, निकले वचन, अपर वदन से।
नीड़-निपन्न-नभग-शाव-सम, है गति सुदारुण हमारी।
है विक्रोष हमारा अश्रुत, अदृश्य अश्रु-प्रवाह द्रुत,
हा! बीत गए, क्षणिक स्वप्न सम, वे परम मनोहर दिन सुखकारी।।”

“छूटा निज लोक क्या! स्वत्व मानो छूट गया, मानो क्षण एक में, कोई सर्वस्व हो लूट गया!
अब जाना होती है क्या अगति-अबल की पीड़ा, होता है जिसका फट पड़ने को हृदय, सदा विकल।
अब जाना है हमने, बद्ध खग का दुख, है विलखता, कैसे कर गगन का रुख!
जाना कैसी दुस्सह होती है पराधीनता, भरी रहती नयनों में, मुक्तिलालसा केवल।।”

इस प्रकार, विविध स्वान्त उद्गार, प्रकट करती रहीं देवियां अपार,
जिसको सुन-सुन, द्रवित होते, मानो हिमवान के शिखर सघन।
तब निशा-दूषण को, दीर्ण कर, नभ-भूषण-पूषण उदीर्ण हुए,
हुईं अग्रसर, पुनः सर्व योषाएँ, हृदयों में भरा था, नवीन स्पंदन।।

सर्ग ४

तब पहुँची जहाँ था गिरि कुछ समतल।
निष्कंटक विजन सित-कश्चित-श्यामल।।
तपश्चर्या योग्य धराधर सानु को पाकर।
बोलीं शतावरी   तब सबको ठहराकर।।

"है यह प्रांत निशांत, सकल उपद्रव-विगत।
यहीं भगवती प्रसादन हेतु होंगे हम तप-रत।।"
तब एक हिम पिंडिका की कर रचना।
करने लगीं पौलोमी सविनय वागार्चना।।

विजयते नगेन्द्र-नन्दिनीं नक्षत्र-नायक-निभाननाम्।
स्मरामि बिम्बाधरोष्ठां मृदु-वचन-रचना-परायणाम्।।
वन्द्यते सौहार्द-परिमल-पूरितायत-पद्म-लोचनाम्।
प्रथते नीलाञ्जनावच्छिन्न-घूर्णित-लोचनाम्।।

जयति विटङ्क-अनाटङ्क-तातङ्क-पूर्ण-कर्णान्विताम्।
अनुध्यायामि जलजाभूषित-स्नेहसून-नासान्विताम्।।
राजते जातिका-प्रातिका-पीतिका-मल्लिका-गुम्फिताम्।
अनुस्मरामि मुक्त-सुरभित-घनाभ-चिकुरान्विताम्।।

जयत्यतिबल-भुज-कल्प-लतिकान्विताम्।
स्मरामि कल-कङ्कणाङ्गदाद्यालङ्कारान्विताम्।।
कीर्त्यते स्कन्द-गयन्दवदन-लालन-लग्नाम्।
अनुभावयामि महेश-मानस-अनुमोदन-मग्नाम्।।

विजयते खल-दल-दलनोत्सुक-प्रपदान्विताम्।
स्फुरति कृष्ण-प्रसर-पङ्क-पङ्कज-पदान्विताम्।।
मनसि चिन्तये तव सकल-ताप-हरं विग्रहम्।
दुःख-सिन्धौ निमग्ने मम नेत्र-युगले उद्धर।।

कर कातर स्तवन इस प्रकार।
पौलोमी तदुपरांत हो गईं शांताकार।।
कृत कमलासन, नयन निमीलित।
निष्चेष्ट-मानस, ध्यान-कीलित।।

शचीवत् उनके संकाश वह यौवत।
कृतासन अनंतर हो गया ध्यानरत।।
यूँ संकुलित थीं वे लगतीं कैसी—
उलप लतिका संकुल जैसी।।

निमीलित नयनों को ही जानो कलिकावली।
हों मानो अरुण करतल ही नवल दल दलावली।।
प्रकांड थे मानो उनके भृश-शात-उदर।
शाखा-प्रशाखाएं मानो बलित बाहु-प्रकर।।

ज्यों चलता था शीत प्रभंजन।
गलित अंगों में होता था कंपन।।
वेपथुवश श्लथ हो जाते कवरी बंधन।
आ गिरते आननों पर कुटिल केश गण।।

जो होता था मंद निःस्वर भी कहीं।
होतीं निभीत पर दृग खोलती थीं नहीं।।
हो उठे आकुल पिंजरगत-खग सम उनके कामग मन।
विगत की सुमधुर स्मृतियाँ आतीं स्मरण क्षण-क्षण।।

वह प्रियतम रदन-वसन-आसव-अदन।
वह प्रणय रोष, वे व्याज वचन, वह कोमल-कदन।।
वह नवल-कमल-दल आयोजित शयन।
वे माधवी-मत्त-निशंक-विलुब्ध-नयन।।

वे आलिंगन, वे परिरंभण, वे चुम्बन-प्रतिचुम्बन।
वह अभूत औदार्य, वह सर्वस्व समर्पण।।
वह अबाध उन्माद, वे स्वच्छंद विहार।
आ-आ मानस को झकझोरते बार-बार।।

बहु रूप-रूपकों को धरता-खेलता कुशल मन।
वे फिर-फिर करतीं उसका बलात् मर्दन।।
कभी क्रुद्ध मन बुद्धि को धिक्कारता।
उदर- वह्नि दुर्दग्ध तृषाकुल चिक्कारता।।

कभी करता प्रियतम-सम अनुनय-विनय विपुल।
कभी करता तर्कना, सखिवत् हितार्थाकुल।।
कभी चोटिल बालक-सा जालक अभूत।
दिखा-दिखा निज व्रण, करना चाहता द्रवीभूत।।

निदाघ-खिन्न, तृषिताकुल श्वान समान।
खोजता विषय-छाँव, स्थान-प्रतिस्थान।।
तब चल चित्त के महत क्षेत्र पर।
मन-मति में मचा निदस्र समर।।

था गो-कषाल भूपाल मन, काम-कुंजरारूढ़।
सचिव अहम् था क्रोध-कलभ पर समारूढ़।।
मोह-वाजि, राजि-क्षुरों से विभ्रम धूलिका थी उड़ती।
उर-नभ प्लावित कर विवेक-अर्क को छादित करती।।

थे दोनों मद-पूर, पदवी-प्रसर-पिहित।
थे जो विविध-विकारायुध समन्वित।।
मति, यम, दम—बंधुओं सहित थी संग्रामस्थिता।
ज्ञान-विज्ञान का अवलम्बन लिए थी समुर्जिता।।

अविच्छिन्न-स्व से हुईं वे सद्यः परिचित।
निज बिम्ब को ही मानो देख हों विस्मित।।
यह महाहव चलता विरव-अगोचर अनवरत।
जूझती थीं सकल, अकेली, असहाय सतत।।

रिसने लगे श्रमित वपुओं से स्वेदन-लव।
अनंत को भरती थी निःश्वसन की रव।।
जन्यहर्षित होतीं बहुशः विपुल-पुलकावली।
उठ-उठकर विसर्जित होतीं कम्प-तरंगावली।।

तब होने लगीं सकल दिशाएँ तम-प्लावित।
विवर-वदनों से होते अंधविहंग स्वर प्रसारित।।
शिखरी-शिरोमणि के सित-सानु समुच्छ्रित।
उल्लूक गम्भीर गिरा को करते अनुरसित।।

सुन उस रव को, शरभ-शाव होड़ में लगे गरजने।
इस तुमुल से नगप के हिमवास लगे सरकने।।
देख चर्वणपरायण मेष-परिकर क्षपागमन।
करने लगे श्रृंग से श्रृंग कूर्दन-जवगमन।।

क्षुर-कुल घृष्ट शिलाएँ होने लगीं तब स्खलित।
लगता, निज मुकुटावली उतारता हो गिरि श्रमित।।
आ टकराते तम भ्रांत हो शिखरों से भीम नभोगज।
चमकतीं चतुर्दिक तड़ित, उठती विपुल हिम-रज।।

विकट विप्लव धराधर-मंडल पर होते रहे अनंत।
तपोस्थित, तदपि देवांगनाएँ रहीं सप्त दिवस पर्यंत।।

दिन आठवें, भगवती को तब भी असंतुष्ट पाकर।
पुलोमजा ने अभ्यर्थना पुनि आरम्भ की कातर।।

जयति जगज्जननी, जयदा, जयमालिनी।
जयति जगद्धिता, जयंती, जयवाहिनी।।
निराश्रयाश्रया, नग-नायक-निवासिनी।
निकुद्ध-नयना, निघोर-निनादिनी।।

निशिचर-निकर-नि:करण-निरते।
शरणागताकुलता-हारण-व्रते।।
करुणायुते, अत्यार्थीक-कल्पलते।
जयति दुर्धर-धुरंधर-धर्षण-रते।।

जयति जगदम्बिके, त्रिलोक-शोक-हारिणी।
जयति दुस्तर-भव-निधि-निमग्न-तारिणी।।
विश्वकारिणी, महेश-मानस-विहारिणी।
दैत्याग-दम्भोली, दिति-सम्भव-संघ-संघारिणी।।

निरंतर-निजभक्त-आंदनानंदिता।
प्रसादिता, विबुधवर-व्रज-वंदिता।।
अजिताहव-नंदिता, समाधिक-विवर्जिता।
त्वयाकृत-क्लिन्नानना-विश्वम्भरासकृत-सस्मिता।।

विश्वम्भरा-वराभयकरा-आनंदकरा।
जयति परापरा-चराचरार्तिहरा।।
जयति आर्त-तारण-सुतत्परा।
पाहि माम, पाहि माम, परमेश्वरी परात्परा।।

इस प्रकार कर, पौलोमी पुनि स्तवन।
शून्य को लगीं आतुर अविलोकन।।
उभय स्तुतियों को निष्फल मानकर।
बोलीं इंद्राणी, निज वदन झुकाकर।।

“अहह माता! तुम तो इस प्रकार।
करो न मुझ दासी का तिरस्कार।।
अनाथ शिशु की भांति, हे भगवती!
मैं अबला हूँ, तुमसे विनती करती।।”

“हा! करुणाशेवधि! तुम इस प्रकार।
न बनो पाषाणहृदया, निर्विकार।।
मैं तुम्हारी कृपा-योग्य, माना कदापि नहीं!
स्वार्थ-निहित, मुझ पापिष्ठ का कहाँ नहीं?”

“देवि! मुझ दुष्टा का विचार।
भले ही करो न एक बार।।
पर ये अबलाएँ, जो मेरा विश्वास कर।
आ गई हैं यहाँ, मेरे ही आग्रह पर।।”

“तन-मन की सकल त्रास को सहकर।
करे करणीय आयास मुझ से बढ़कर।।
उपेक्षा इनकी तो तुम, करुणानिधे! करो नहीं।
हा! हा! जगदम्बिके! विलम्ब और उचित नहीं।।”

निर्व्याज विनय कर, पौलोमी ने फिर।
खोले निज क्लिन्न, साशंस नयन अधीर।।
पर धुंधरित शून्य के सिवा, दीखता कुछ और न था।
चिरक्रंदनरता करक-हता चातकी सम, थी शची-चित्तावस्था।।

पीछे मुड़, बारक देखने का साहस था कहाँ उर में?
जातीं, दबी आत्मसंदेह के भूभृत-तुल्य भार से।।

सहगामिनियों के हताश मुखों की करतीं जो कल्पना।
हृदय को प्लावित करतीं ग्लानि और आत्मभर्त्सना।
किस भांति निज विफल मुख उनको दिखातीं?
किस मुख से लौटा, उन्हें उस नरक में ले जातीं?

तब शची हृदय में सुलग पड़ी प्रचंड क्रोधानल।
दीर्घ श्वास-प्रश्वासों से होती उग्रतम से उग्रतर।।
"तुम से बढ़कर जगत में निष्ठुर है कौन?"
इंद्राणी ने पुनि तोड़ा निज दुसह मौन।

“मैं मूढ़ा भी तो निर्विचार, निज अंचल को पसार।
करुणा की भीख मांगने आ गई तुम्हारे द्वार।।
जो होती तुम इतनी ही दया करने वाली।
तो होती कहाँ पहले ही ऐसी दुर्गति हमारी?”

“हैं आडम्बर मात्र तुम्हारे खर आयुध सकल।
जो उठते नहीं, देख-देख दीनों को विकल।
इससे अच्छा मैं दानवों के चरणों में जा पड़ती।
उनके हृदयों में स्यात् कुछ करुणा तो फूट पड़ती!”

“इतनी माताओं की सीत्कारें, इतनी बालाओं की चीत्कारें!
सुन-सुनकर भी होते कैसे नहीं व्याकुल, युग-श्रवण तुम्हारे?”
सावेग इतना कह, शची कंठ अस्रनिरुद्ध हो गया।
सिसकियाँ, हिचकियाँ भरते, शुष्कतर कंठ हो गया।।

उष्णास्र कण ढल-ढल, हिम-पिंड को लगे पिघलाने।
उच्छून लोचनों के आगे तिमिर घोर लगा छाने।।

तब स्पर्श विचित्र, एक अपूर्व सुखदायक।
निज चिबुक पर अनुभव हुआ यकायक।।
उठाया जब निज वदन, हो विस्मित।
देखा प्रत्यक्ष खड़ी थीं भगवती सस्मित।।

करुणार्द्र जित-अम्बुरुह-नयन थे परम हर्षित।
सुचिर क्लांति, मन-तन की करते क्षिप्र शमित।।
सुविकसित लोचनों से देखतीं वे महाशक्ति को।
हरतीं जो दर्शन मात्र से सकल संभव भीति को।।

उमग पड़ा साधिकाओं के हृदयों में आनंद-सिंधु।
तृषित, तिमित लोचनों से झरते अविरल प्रेम-बिंदु।।
तृणावती सम काय उनकी थी पुलकावली युत।
खड़े होते बनता न था, बनी बैठी थीं सकल बुत।।

कृत धृष्टता का शची मानस में ज्यों ही आया विचार।
भगवती चरण-कमलों में हो गईं नतमस्तक तत्काल।।
भक्तवत्सला ने साग्रह त्वरित, शची को उठा लिया।
स्निग्ध वचनावली से, हृदय-व्रीड़ा को प्रशमित किया।।

"तुम्हारे सकल वचनों से मैं सुमुदित, अयि पुलोमजा!
तुम्हारे समान किसने त्रिलोक में मुझे है यों भजा?
जैसे होती मुदित कोई माता, सुन निज बाल-रोष-वचन।
वैसे ही हूँ तेरे उपालंभों को सुन मैं, आज परम प्रसन्न।।"

"मेरा अनुग्रह पाकर न होगी तुम्हें अब भीति कोई कहीं।
विश्वद्रोही दनुज-कुल अब जीवमान कदापि रहेगा नहीं।।
तुम्हारे एक-एक अश्रु-बिंदु का प्रतिशोध मैं।
खलु, अब लूँगी उनके सिंधु-भर रुधिर से!"

सर्ग ५

तब संग्रामोत्सुका भगवती करने लगीं गर्जना,
निर्घोष सुगंभीर जिसका त्रिलोक को भरने लगा।
प्रकीर्ण जलद-जाल निपतित होते मही-वक्ष पर,
विचलित हो नीरनिधि निज मर्यादा त्यागने लगा॥

स्खलित होने लगे धराधर-शिरोमणि के तुंग शिखर,
दिग्वधुएँ होतीं निभीत, निरुद्ध प्रभंजन होने लगा।
पद-घात करतीं धरणी पर भवानी बार-बार,
जिससे जगदाधार के उरु-फण नत होने लगे॥

लघु-पोत भाँति द्वीप-चक्र उदधि-उत्संग में समाते,
जल-जंतु आकुल सकल, तटों का रुख करने लगे।
हो गये विकृत चटुल्लोल पयस्विनियों के प्रवाह,
खग-मृग पर्याकुल यत्र-तत्र पलायन करने लगे॥

यकायक असमय गोधूलि-बेला सर्वत्र छाने लगी,
दुर्दोहिता प्रकृति जैसे क्रोधातुरा होने लगी।
सुचिर-निगड़बद्धा वासिता हो स्वच्छंद मानो
निज त्रासकों के दमन हेतु उद्युत होने लगी॥

दनुजपुरी में निडर दानव-दल करता जल्पना था जहाँ,
श्रवण कर इस विचित्र रव को वे भी चकित हो गये।
उन्नत मणि-क्लृप्त आसनों से वे धरणीतल पर जा गिरे,
किंकर्तव्यविमूढ़ हो, एक-दूजे के वदन ताकने लगे॥

दनुज-शाव निज माताओं की अंकों में दुरते जा जाकर,
पंजरबद्ध शुक-सारिकाएँ आकुल फड़फड़ाने लगे।
निज शालाओं में बद्ध हय-गय-संचय चिक्कारने लगा,
गगनभेदी भवनों के शिखर राजपथों पर गिरने लगे॥

पुरवासी सकल त्रसित हो हाहाकार करते असहाय,
भ्रमित था यातुभूप भी, अहैतुकी विभीषिका विलोक।
"यह अभूतश्रुत विशद नाद है किसकी हे सचिवो?
जिसके कारण व्यथित होते दिखते हैं सकल लोक!"

"अवश्य ही प्रभो! जड़ देवों का दुस्साहस है यह,"
बोला चिक्षुर नृशंस महिष-चतुरंगिणीपाल।
"होगा अपर कौन जड़ जग में ऐसा, जो चाहेगा
बनाना निज मात को सुवनहीना यूँ अकाल?"

"हो, सत्य कहते चतुर चिक्षुर! ये कापुरुष देव,
वल्मीक-दुरित-दंतहीन उरग सम, छिपे न जाने कहाँ।
हे धुरीण! सपदी सकटक करो प्रयाण तुम, जाओ
उदग्रादिक वीरों संग, इस शब्द का उद्गम है जहाँ॥"

पाकर राजाज्ञा अविलम्ब चला प्रसरप्रिय चिक्षुर,
सकल-खल-दल सहित तीक्ष्ण शस्त्रों को चमकाते।
करते भयक दुंदुभी-घोष, लुलित होती तुंग पताकाएँ,
पहुंची अनि पर्वतपति-श्रेणी, विविध उपद्रव मचाते॥

पूर्वमेव चिंतित शक्र ने जब आगत दनुज-दल को देखा,
रही न तब अवधि क्लेश की, जिजीविषा भी रही जाती।
पर्याकुल प्राणप्रिया पौलोमी को लगे पुकारने,
क्षितिपतित गतबल क्षत कपोत की भाँति॥

मातलि तब ले गये गुह्य गम्भीर में साथ आपने,
शचीवल्लभ को यथा-तथा कुछ धीरज बंधाकर।
बोलते पुनि-पुनि पौलोमीप्रिय, सिसक-सिसक कर –
“हा शची! कौन जगत में नीच होगा मुझसे बढ़कर?”

यहाँ करते अमरधर अनवरत विलाप हृदय-द्रावक,
वहाँ पहुँचा चिक्षुर कैलास तल तक, लगा तर्जन।
"है कौन मत्त, जो असमय यमपुर जाना चाहता?
करता है रे! क्यों कायर श्रृगालवत् स्वन?"

निशम्य यातु-यूथप-जल्पना, सवेग सपदी तल पर—
सिंहासीना उदायुधा भगवती सधारीं।
विविधायुधभृता भगवती को देख दम्भी दनुजात—
समस्त हुए विस्मित भारी॥

"अरी अबला! कौन तू? रोती थी क्यों चढ़ भूधर पर?
कौन पति तेरा? है बैठी क्यों इस बूढ़े बिडाल पर?"
अनुमान, निरीक्षण, स्वगत करने लगा विदग्ध चिक्षुर,
उपहासपूर्ण वचन यूं कह कर॥

विद्युतधर कल्प वाणी में तब बोलीं विकरालवदना—
“रे मूढ़! तेरी नियति का कर विचार, रोती थी!
सदा क्षुधाकुल काल ही साक्षात है कांत मेरा;
उसकी ही उदरपूर्ति हेतु मैं तांक लगाती थी॥

जैसे अनल निकट अनायास ही शलभ वंश आता है,
रे! रे! शठ! सदल तू वैसे ही है आया मेरे निकट।“
आशातीत कटूत्तर सुन यह, तन गईं तमीचर भवें,
बलित धनुष सम; त्रैरेख प्रकट ललाट पर विकट॥

अमर्षपूर संग्राम संकेत तुरंत आकुल असुर ने किया,
अविलम्ब ही अम्बिका पर पड़े टूट अगणित भट।
मदपूर रदन कटकटाते, झर्रराते, अर्रराते—
विविधायुधों से करते झपट-झपट प्रहार,
झट-झट जाते, कोई लिपट॥

तब कर भयक नर्दन लीलानिलया चण्डिका ने लीलया,
प्रहार-प्रतिप्रहार शस्त्र समूह सकल सहज काट दिया।
कराल तड़ितधर संकाश कर, निरंतर खर शर वर्षण,
धर-धर-धर-धर, अखिल अभ्र अम्बिका ने पाट दिया॥

श्वास-प्रतिश्वास-प्रभूत अमित, अतिबल युयुत्सु गण भी,
करने लगे परिप्लावित रिपु रुधिर से महारण क्षेत्र।
विशद दुम्दुभी मृदंग नाद करते उस जन्यमहोत्सव में,
देख-देख ऊपर से जिसे होते तुष्ट देवांगनाओं के नेत्र॥

प्रघोर तुमुलोर्जित प्रसर, मद पूर हुंकार भरते बार-बार,
हेति-हत दितिसुत संघात होता क्षण-क्षण शीर्ण।
नोंच-नोंच लेते तृण सम किसी की केशावली,
मार-मार मूसल किसी के वक्ष पर, कर देते विदीर्ण॥

द्रुम शाखा संकाश उपार लेते युग भुजाएं किसी की,
काट चरण किसी के रेंगते देख, घेर उसे करते उपहास।
कर क्रूर पदाघात बार-बार, श्रीफल समान सर कुचलकर,
उसका करते प्रहर्षित मदोत्कट अट्टहास।।

फिराता निज दावानलाभ अयाल फिरता महादेवी,
मृगनायक लोकपीड़कों को निज तीक्ष्ण दशनों में दबाये।
लहुसिक्त शवों को झकझोर नभ में देता वनाधिप,
उछाल, तो लगता मानो हो सांयकालीन कंद आ छाये।

प्रचंड गणों ने दंड भर में बहा दी अमित अजस्र शोणित—
धाराएँ रुंड-मुंड-झुंड कृत, कुधरों को जो दीर्ण कर जातीं।
हिमगिरि के वलक्ष वास, लगते शिरीष-सून-सानु संकाश,
मानो दैत्य शिशिरांत पर जंतुवती फाग फुल्लवदना मनाती।।

प्रधान अनि दल को यूं विलोक हन्यमान, सारथी को
तत्काल निदेशन देने लगा कुपित चिक्षुर उद्भट।
यों ले चला सारथी उसे, तब ज्यों ले जाती हैं वीचियां
मरणासन्न तिमि को शारपूर् कूल के सन्निकट॥

निज जन शव निकर से हो पारित, द्वंद-सन्नद्ध पहुँच वह,
जगदम्बिका के सन्निकट छोड़ता शिलीमुख कराल।
सम्भाल कोदंड चंडिका ने तूर्ण, कर दिये खल शर चूर्ण,
तमीचर ने किया विस्मित हो शक्ति-संधान तत्काल॥

अविलम्ब अम्बिका ने शमित किया उसे एक शर से;
ततः छोड़ अपर बाण, हतप्राण सारथी को किया।
सारथी को यमायतन-गत विलोक व्याकुल चिक्षुर ने—
सारथी शव को ढकेल, वीति-वल्गा को थाम लिया॥

कठोर कषा-घात करता, मोड़ने स्यंदन को लगा,
पर सारथी व्रणित शव रथ-चक्र में था अड़ा।
तब हो विरथ-अविकल्प, पाणि-धृत चर्म और
शाण-घर्षित कृपाण, कल्याणि समक्ष हुआ खड़ा॥

क्रोधादारुणाक्ष बोला—"अयि अभागिनी! बहुत काल,
तू और तेरा यह बिडाल, बचे रच-रच इंद्रजाल।
कमलिनी को करेंद्र क्रूर है अवनमित करता जैसे,
सगण संवल्यित करुंगा मैं तुझे उसी प्रकार!"

तर्ज ऐसे ततः झपट पड़ा वह पंचानन के ऊपर,
उत्तेजित हो हरि ने झटित किया उर पर खर नखाघात।
डगमगा पृष्ठ बल गिर वह, रहा कुछ क्षण अचेतन,
खंडित-कठिन-त्राण, हुए रुधिर-रंजित गात॥

पुनरोत्थित हो वह क्षिति से, चिति कुछ सम्हाल,
कूदा उठा निज विगलित विकराल चंद्रहास।
तुरंत निज असि से अम्बिका ने किया प्रति प्रहार,
धूलिसात हो गई सैन्यनायक की चंद्रहास॥

क्रोध-कृशानु से कलेवर दग्ध होता देख यह,
अविलम्ब उसने ततः तीक्ष्ण शूल उठा लिया।
धूलि-भरे रुधिर-सिक्त वदन से बकता दुरुक्तियां,
ज्वलित शूल तब उसने लक्ष्य कर छोड़ दिया॥

सपदी भगवती ने भी निज तूर्ण सूर्य-संकाश शित-शूल
सवेग छोड़ दिया; शूल-शूल विवि भिड़े परस्पर।
मानो जूझते हों दिनमुख-अवसर पर सहस्त्रकर—
पूषण और सकल कला-शीर्ण क्षपाकर॥

दनुज-शूल का शंखमूल-सा कर विखंडन,
जा लगा भगवती-शूल चिक्षुर के वक्ष पर।
छिन्न-भिन्न हो गया क्षणांश में, भंगुर वल्मीक सदृश,
कटक-नायक का कठिन कलेवर॥

निज नायक को विलोक विनिहत तब,
चामर-पामर द्वीपारूढ़ चला संयुग करने देवी से।
विपिनाधिप-नर्दन-भीत, गज से गिर निज वारण-चरणों से,
हो दलित, मिला शीघ्र ही वह निज बंधुओं से॥

दुर्धर-दुर्मुख मुख, शर-निकर पूरित भगवती ने कर दिये,
शल्लक-मिथुन समान होते थे दोनों प्रतीत।
उदग्रादिक उत्ताल दानव-वीरों को भी,
दैत्यौघ-दारण-दक्षा ने लीलया लिया जीत॥

सर्ग ६

प्रत्यूषा गाती थी मधुराग, था प्लवनातुर हंस अमल अनंत सर में,
महिषपुरी के प्रदीप थे लपझपाते।
महारजत-रचित नगरद्वार पर कतिपय द्वारपाल उनींदे थे खड़े,
प्रभात की सीर-समीर से थे कंपकंपाते॥

तब सहसा क्षितिज से अश्वों की चारण ध्वनि सुनाई देने लगी,
मुड़ गए सबके विलोचन उसी ओर।
"स्यात् अर्दन कर अरि का आ रहे हैं अजित चिक्षुर,"—
बोला एक, सहज ही निज दशन निपोर॥

जब अश्व वे आ गए द्वारपालों के निकट,
तब मशाल के आलोक में जो देखा अश्वों को।
तीक्ष्ण चीत्कार कर, भूतल पर गिर गया,
छूट गई मशाल भी, उसके कांपते हाथ से॥

थे तुरंग रुधिर से रंगे, आसीन थे उन पर लहुलुहान कबंध,
क्षुरों में उलझे चूल रक्तसिक्त थे।
उठती थी दुर्वास उनसे, मक्षिकाओं से थे खिन्न हिनहिनाते,
प्रसर पंक-कलंक-जुष्ट, उनके पुष्ट गात थे।।

हयशालाओं में ले जाने लगे जो निशिचर उन्हें राजपथ से,
पृष्ठच्युत हो बहु कबंध, भू पर जा गिरे।
यातु-रक्त अंकित नृपमग हो गया, उद्घाटित करे जब सदनपट,
तो विस्फारित नयन सब देखते रहे खड़े।।

निज प्राणेश और पुत्रों के शवों को देख यूं भू-लुंठित विमुंडित,
दानवी दल उनसे लिपट-लिपट रोने लगा।
रुधिर-अस्र-मिश्र अजस्र धाराओं से, राजायण देखते-देखते,
आप्लावित होने लगा।।

वज्रतुंड-वंश-व्यूहित व्योम था,
वायसों की विप्रिय-वाणी चतुर्दिक हो रही थी व्यापित।
कंचन हर्म्यों पर बैठे एकाक्ष राजि,
मानो आगामी महासंहार को कर रही थी परिलक्षित॥

कबंध-नाभि-कुंड से असृक-अदन करते,
पिपासु शुनि निज चिर तृषा बुझाते थे।
जो रोकते उन्हें दानवियां और द्वारपाल,
तो खिन्न हो उन्हीं पर झपटते, गुर्राते थे॥

विवत्सा सुरभि समान, करती थी विलाप दानव माताएं,
मनोहर दिनमुख परम वीभत्स हो गया।
उषा का सुमधुर राग, उस विक्रोष में कहीं खो गया,
प्रभात में ही, मानो अरुण अस्त हो गया॥

विलास-विभव-विमुग्ध महिषासुर, था शयनित
निश्चिंत रनिवास में, अज्ञात नगर कोलाहल से।
यकायक टूटी कालातीत तंद्रा उसकी,
इस सर्वदिक व्यापी सुदारुण हाहाकार से।।

जाता रहा सकल मद उसका, देख राजपथ को,
मानो देख रहा हो नृपसंचर को नहीं, वरन् भविष्य-दर्पण को।
उज्जृभित हुईं कनीनिकाएं, वदन निष्प्रभ हो गया,
जड़ित थे अपघन सकल, देहदृशा क्षणभर को हुई विस्मृत।।

आमत्य-संघ संग कर मंत्रणा,
शेष निशिचरों को कर संकुलित, अविलंब चला वह।
अनुसरण कर वृक सम असृक-अंकों का,
आहव-अवनि को आशु-अभिसरण करता वह।।

यथासमय महिष-चतुरंगिणी, पहुँची गिरि-श्रेणी में,
यत्र गण सहित थीं जयंती, बहु-शव-भूधर-मध्यस्थिता।
मित-स्मित से था भीतिविरहित आनन अलंकृत,
थे घूर्णित-गंभीर-धीर विलोचन, थीं रुधिर-राशि-संस्थिता।।

रक्त-श्याम थी यत्र धरणी, निर्भय गृध्र-गण करते थे भोज जहाँ,
अचिर मृत उष्ण मांस से तृप्ति पाते।
पहन पुरीत-मालावली वत्सादन, करते थे उन्मुक्त यशगायन,
भीरु फेरु फिर-फिर थे आते-जाते।।

समागत महिषासुर को देख, दनुज-दलन-दक्षा—
भगवती की युयुत्सा होने लगी प्रबलतर।
जैसे आगत शलभ-संचय को अवलोक,
पसारती है लेलप्यमाना अग्नि निज रसना प्रसर।।

तर्जने लगीं महेश्वरी तब—

“अये धृष्ट! अन्ततोगत्वा आ ही गया
तू निज काल के संकाश सहित सकल संघाती।
रे लोकपीड़क! पाकर बल तू बना जनद्रोही कैसा?
वनाधिप-नायकत्व पा बनता है यथा मृगकुलघाती।।”

“नभ-मंडल-मध्यस्थ मयूखमाली अदय,
संतप्त करता है यथा निजाश्रिता जंतुवती को।
तथा भू-भार-भूत किया क्लेशित, निर्विचार निरंतर,
रे बलमदांध! तूने निरीह चराचर प्रकृति को।।”

“तेरी चीत्कार, आशु भरेगी विस्तृत व्योम को, सुन-सुन पुनः
बरसेंगे बलाहक, हो मुदित अब किसी भी क्षण।
जिस विश्वम्भरा के वक्ष पर किए चरण-घात तूने,
बनेगा झटिति, उसके चरण-युग की धूलिका का कण।।”

विश्रब्ध विंध्यवासिनी! वाक्शर-क्षत महिष-मानस में
उठने लगीं क्रोध-ज्वालाएँ, रह-रह।
भरता अट्टास, बोला वह— "अहो! देखो तो, बंधुओं,
इन किंपुरुष-देवों की अनुपमेय कायरता यह!"

"ले, अबला की ओट जीतना हैं चाहते मुझ से,
आज अदिति का आनन भला कलंकित हुआ!"
"अयि मूर्खा! अनभिज्ञा है स्यात् तू मेरे भुज-पराक्रम से,
जल्पना मेरे समक्ष करती है तू तभी!"

"देख, इन करेंद्र-कर-कल्प बाहु-युग को,
आधीन संसार को जिनके बल पर किया मैंने!
जिनके बल से पयस्विनियों को रुद्ध कर,
नदीश का बहुशः मंथन स्वतः किया मैंने!"

"गतिविवर्जित मारुत को मैंने किया,
श्रृंगहीन वृष-सम हैं शिखरी अनेक मेरे ही कारण।
दबी जाती है अब्धि-मेखला मेरे ही भार से,
कादम्बिनी का इन्हीं करों से मैंने किया विदारण!"

"अयि सारंग-नयनी! सुंदरी-मतल्लिका!
सुकुमार वल्लिका! करती है क्या प्रशोभती वैर वारण से?
मैत्री, कायर की क्लेश-कंद है,
जो तू है धूर्तवर विबुधों द्वारा विवशीकृता किसी कारण से!"

"तो, शरण मेरी अविलंब ग्रहण कर!
देता हूँ तुझे अभयवर मैं, करता हूँ क्षमा तुझे, कामिनी।
मेरी क्रोड़ में विलसित हो तू,
जैसे श्याम-वपु नभोगज संग लसती है सदा सौदामिनी!"

यह वचन श्रवण कर, उपहसित बोलीं अम्बालिका—
"रे मदांध! रे मंदमते! अब मष्ट कर!
देख, चिक्षुर-पाणि-पालिता चमू को!
धूलिसात् हो, कैसे पड़ी है अवनि-तल पर!"

"देख, इस दुर्मुख का दुर्धर्षित मुख!
दुर्धर को धर, चीर-चीर खाते हैं वृक कैसे!
होगा कतिपय क्षणों में ही तू ससैन्य निहन्यमान,
यूप-निबद्ध बलि-पशु के जैसे!"

निशम्य आनर्त्त-आह्वान! परम-कुपित,
यातुधानेंद्र ने तत्काल किया संग्राम संकेत।
ततः पंचदश भागों में विभक्त कर निज कटक,
दस दलों को भेजा आगे, दश यूथपों समेत॥

जन्यमुदिता भगवती के व्यूह-रचना-विचक्षण गण,
तब विशद पंक्तियों में जा समस्थित होने लगे।
असुर-कटक गोलाकार हो, भेदने लगी गण-पंक्ति रचना को,
देवी-गण भी चरण पीछे धरने लगे॥

देख, रण में शिथिल होते गणों को,
असुर धुरंधर उन्हें और वेग से पीछे धकेलने लगे।
धनुषाकार गण-सेना जब हो गई,
तब झटिति व्यावर्तित वे रिपु-कटक को करने लगे॥

अत्याकीर्ण हो रण में परस्पर घृष्ट,
होते थे उनके वर्मायुधादिक,हाथ भी उठाना असंभव हो गया।
जालगत जलजीवन-कषाल सम,
प्रतिक्षण हन्यमान यातुधान-यूथ, क्षणांश में आधा हो रह गया॥

क्षण एक में पलट गई प्रधन की दशा,निभीत निशाचर देखते रहे,
 निज बंधुओं को काल-गालगत होते।
चकित महिषासुर, आश्चर्य से ढिढक रह गया निज स्थान पर,
धैर्य समस्त क्षपाचर भी थे अपना खोते।।

तब शेष अनीक का रुख कर, गण अग्रसर द्रुत गति से होने लगे,
प्रतिनिर्देश दिया महिष ने तत्क्षण।
विचलित चित्त से कुछ बढ़ी शेष वाहिनी,
जा भिड़े वे और निशंक, कंक-कल्प वेगशाली गण।।

प्रहार एक-दो में ही क्षीण हुआ सकल आत्मबल सबका,
परांगमुख हो, सर्व समरक्षेत्र त्याग, भाग चले।
हाहाकृत! देखते न पलट बारक, महिषासुर तर्ज्यमान,
निज जीव-रक्षण हेतु, एक-दूसरे को जाते कुचले।।

संयुग-परिमुख हो गए समस्त दुर्धर्ष धुरंधर,
एक महिषासुर वहाँ असहाय, ठगा-सा रह गया खड़ा।
सत्वर उसने विकराल महिष-रूप तब धारण किया,
प्रधन प्रस्तुत हुंकार भरता, वह गणों से जा अड़ा॥

शित श्रृंगों से वह सरभस करता प्रहार गणों पर,
निज कठोर क्षुरों से बहुतों को समवल्यित करता।
निज कराल बालधि से नभ में किसी को देता उछाल,
भांति-भांति से रहा घड़ी भर गणों को त्रस्त करता॥

तब अमर्ष से युध्यमान वह पहुंचा देवि के निकट,
त्याग महिष रूप ,आशु शार्दुल रूप उसने धरा।
कर सुघोर गर्जना करने लगा नखानखी देवी सिंह से,
तत्क्षण देवी ने खींच ली निज असि तीक्ष्णतरा॥

प्रहारोद्युत देख देवी को उसने असिभृत रूप लिया,
प्रतिप्रहार कर झपटा वह जगदम्बिका की ओर।
सावधान हो देवी ने शित शूल से आहत कर उसे,
किया कुधर कल्प उर पर, पवि तुल्य पदघात-कठोर।।

दश शरासन दूर गिरा वह, छूट गयी कर से कृपाण,
सम्हाल कर प्राण निज, धारण वारण रूप किया।
चिंघाड़ता मदोर्जित, मही को करता कम्पायमाना,
प्रचंड तुंड-दंड से, विपुल गणों को उछाल दिया।

तुंग देवदारु द्रुम दल को मूलकवत् कर उन्मूलित,
अजस्र स्यंदमान धवल रस द्वारा मत्ततर होकर।
फेंककर महाशक्ति की दिशा में तब उनको,
रभसपूर चढ़ा जाता था गण संदोह पर।।

चंडिका ने तत्क्षण प्रचंड शक्ति का विनियोग किया,
भस्मीभूत कर तरु निकाय को, किया दैत्य पर संधान।
मदसिक्त गंड पर चंड शक्ति वह जा लगी सावेग,
क्रोधाकुल हो वह मुड़ा प्राणांतकारी कृतांत के समान।

व्यजन सम श्रवण पुटों से प्रसूत करता प्रलय प्रभंजन,
काल व्याल कल्प थी कराल शुंड करती फूत्कार।
था कोटि कल्पांतकारी तड़ित्वान समान, समावेग,
क्षयकालीन ह्रादिनी सम चमकते खर दशन अपार।

आता अपनी ओर जान, जगज्जननी ने तब त्वरित,
विवि विशित शर से एक भेद दिए उसके दंत युगल।
खींच अविलंब प्रखर असि, निज किया कर क्षत,
हुआ वितुंडित वितुंडाधिपति, लगा गर्जने विकल।।

रुधिर-सिक्त शुंड उसकी, देवी चरणों में गिरी जा,
तड़पती थी कटकर वह, विमुंडिता व्यालिनी समान।
दिगंत में दैत्येश्वर की सुघोर चीत्कार व्यापित हुई,
कैलास स्थित देवांगनाएँ करने लगीं हर्षगान॥

विलोक उन्हें रक्ताक्ष रूप धर पुनि रजनीचर तब,
दिशा में उनकी सकोप दौड़ा, सावेग भरता हुंकार।
देख काल-सायक समान, अपनी ओर आता उसे,
चकित देवललनाएँ करने लगीं हाहाकार॥

संकटग्रस्त देख निज भक्तों को, वत्सला ने,
तत्काल फेंका निज अमोघ काल-पाश घुमाकर।
हो गया फंदित महिषाधीश, यूप-बद्ध पशु की भाँति,
लगा मनुजाद मस्तक पटकने, अति खिन्न होकर॥

यत्न जितना करता वह, कसता पाश अधिक ही उतना,
जैसे व्याल-वदन गत दादुर होता, उरग-उदर-अलंग अग्रसर।
हो गया हतात्मबल, श्रमित अति, दीर्घ श्वासोच्छ्वास लेता,
भगवती लगीं घसीटने उसे, तब सहज ही गिरि से गिराकर॥

"रे कायर! द्वंद्व विमुख हो, निःशस्त्रों पर करता है प्रहार?
क्या यही है वीरता तेरी?" बोलीं कुपिता शैलवरजाया।
श्रवण कर इस प्रकार कटु वचन, गर्जता वह पुनि उठा,
उल्का-पिंड सम दौड़ा भगवती की ओर बौराया॥

उत्तेजित हो शार्दूलवर झटिति, कूद चढ़ा उसकी पृष्ठ पर,
नखक्षत हो लगा झटकने महिषासुर, व्यग्रता से अति।
तब देवी ने निज चरण प्रहार बहुधा उस पर किया,
टूट गए महिष चरण वंशवत, भूलुंठित हुआ दैत्यपति॥

तब निर्विकल्प हो, वह मानुष रूप पुनः धरने लगा,
देख कुचेष्टा यह, देवी ने तत्काल किया उसे गतिहीन।
अर्धनिष्क्रांत हो भय से, वह लगा काँपने, रहा कंठ घुटा,
न था अब उसका शौर्य शेष, मद होता दिग्विलीन॥

झरते थे नयनों से अश्रु, शिथिल हुए जाते गात थे,
शिली सम था रेंगता, पड़ा रक्त-कर्दम-मध्य।
तब देवी ने निशित कृपाण से, छेद दिया सिर उसका,
रक्तसिक्त श्रीफल-सा वह, जा गिरा समर-तल-मध्य॥

व्यापित हो गई अनुगूँज उसकी, तृप्त सर्व कर्ण हुए,
विजय-वैजयंती धरे, खड़ी गर्विता थीं देदीप्यमाना।
लहू-क्लिन्न दनुज शव पर स्थित थीं जयिनी अद्भुत अति,
गेरू-मेरू शिखर पर हो मानो दामिनी जाज्वल्यमाना॥

होते केश लुलित केतु सम, दंत थे दाड़िम-बीज सम,
फुल्लवदना रक्तरंजिता, करतीं मुहुर्मुहुः अट्टास थी।
समर से अतृप्त-सी वे, मुंड-झुंड को थी उछालती,
निज गणों को करतीं सुतर्पित, करा रुधिर-पान थीं॥

दिशाएँ हो गईं निर्मल पुनः, दिग्वधुएँ निर्भीत हो गईं,
मंद-मंद मारुत पुनि बहता, भूमि भार-विहीना हो गई।
निज-निज स्थानों पर लौट गए, विकल खग-मृग सकल,
जल-जंतु सेना पुनि जल-तल गम्भीर को लौट गई॥

अबाध पयस्विनियाँ बहने लगीं, कल-कल करते पुनः,
नदीश सप्तक, निज मर्यादा को पूर्ववत् प्राप्त हुआ।
विकृता प्रकृति होने लगी, विकार-रहिता शनैः शनैः,
चराचर जगत, महत-भय-क्षय को प्राप्त हुआ॥

कैलास-सानु से उतर आयीं, तब सकल अमरांगनाएँ,
मानो फूट पड़ी हो, गिरि से आनंद-पयस्विनी अबाधित।
विविध विवर मुखों से, गत-भय सुर कुल बाहर आने लगा,
मानो मुक्त निर्झर-निकर हो निसरित, कल-कल निनादित॥

उमंग-तरंग-दोलित वे, हो गये संकुलित देवी के निकट,
जैसे उमग पड़ा हो सघन जन-सिंधु, देख भगवती-वदन सुधाकर।
लगे करने प्रशस्ति पराशक्ति की, देव-सिद्ध-गंधर्व सर्व—
कंटकित काय, बद्ध-कर, नयनाम्बु से पाद-पीठ प्रक्षालन कर॥

"जिसके उन्नत वक्ष से टकरा, होते धराधरा ध्वस्त थे,
वही आपके चरणों में, क्षुद्र वल्मीक सम है पड़ा।
जिसके समक्ष क्षणमात्र न रह सका कोई खड़ा,
अब चिरकाल तक आपके चरणों में रहेगा पड़ा॥"

"है इसका क्षार-शोणित भरा मानस निकट जिस गर्त में,
'राक्षस ताल' नाम से अब जानेगा उसे सकल संसार।
अहो! अम्बिके! हम भी हो गये इसके ही समान मदमुग्ध थे,
निज थाती मान दोहते थे सृष्टि-सुरभि को निर्विचार॥"

"निपतन हमारा, अयि नगेंद्र-नंदिनी, श्रेयस्कर सब भांति था,
कृत कर्मों का ही फल हमने था पाया, इसमें संदेह नहीं।
अपने तृण सम अस्तित्व पर, भर आया चित्त में दर्प था,
अपने आगे हमने, हा! मदांध हो, गिना आपको भी नहीं॥"

श्रवण कर सुर कुल अपराध-बोध-निर्गत वचनावली,
शोच-विमोचनी गिरा का किया वत्सला ने विस्तार।
"हे सुरो! है कौन जग में, मति जिसकी होती भ्रमित नहीं?
शिखर स्थित प्राणी को लगती है सुलघु धरणी अपार॥"

"शत-शत जयमाल-भूषित होकर भी, नवती ग्रीवा किसकी?
विजय सहज ही कर देती है, प्राणी मात्र को दर्पित।
हुआ है नहीं पतन तुम्हारा, परिभ्रमित हो बस सम्भल गये,
अब न होगे विचलित तुम, सुनो मेरे वचन रहस्यगर्भित॥"

"विबुधो! सुहृदों के लिए है, जो जननी उत्संग के समान,
जीवमान, पदे-पदे अद्भुत भास्यमान स्वरूप एक है मेरा।
ये स्वच्छ पय-पूरित पयस्विनियाँ ही हैं धमनियाँ मेरी,
सुगम्भीर नीरनिधि-मकरालय है स्पंदनशील हृदय मेरा॥"

"सर्वत्र उत्थित शाखी-राजि ही है पुलकावली मेरी,
वसुंधरा पर शोभित शस्यावली है हरिताभ-वास मेरा।
वर्षा को जानो आनंद-जन्य-अश्रु मेरे, दिशाएँ भुजाएँ मेरी,
अनेक लेलप्यमाना रसना-समन्वित अनल ही है मुख मेरा॥"

“हैं देदीप्यमान कलिंद-कलानिधि युगल-कर्णाभरण मेरे,
खग-कलरव नूपुरों की झंकार, विद्युत-रसन रशना-राव है।
है नील-श्याम-सुवर्ण-वर्ण अंतरिक्ष मुक्त-कुंतल उडुगुंफित मेरे,
उत्तुंग धराधर हैं कंधर मम, हिम-राशि मंजुल स्कंधमाल हैं॥”

“लयन-विलयन-परायण रहता है अनवरत यह,
हैं इसका सेवन, आशु-संताप-शमन, करता अहम-निवृत्ति।
है प्रीतिकर सबके लिए, विग्रह-मनोज्ञ मदीय यह सर्वदा,
अब मेरे इस स्वरूप में अर्पित करो निज चित्त-वृत्ति।”

“त्याग कर अब तुम तिक्त विशाद तथा ग्लानि सकल,
निष्काम हो, मेरे इस आनंद-कंद रूप को करो निषेवित।”
जन-ग्लानि का मोचन कर, अभय-वर अम्बिका ने दिया,
तत्पश्चात अंतर्ध्यान वे हो गयीं निज गण-कदम्ब सहित॥

सर्ग ७

दीर्घ-दैत्य-दोषा का अवसान हुआ जब, मिले तब,
कोक-मिथुन सम, सुचिर-विरह-विदग्ध देव-देवांगनाएं।
संपुष्पित शिरीष-से थे वदन, राग-रंजित अंग-अंग प्रति,
था उमंग भरा, उठती थीं हृदयों में अनेक भावनाएं॥

वारते थे बार-बार शक्र सर्वस्व शची पर प्रमुदित,
सत्साहस की सराहना करते थे थकते कहाँ।
"अहो! शचि, ऋणी हो तुम्हारा हुआ, कृतार्थ मैं हूँ,
मुझ सरीखा भाग्यशाली त्रिलोक में होगा कहाँ॥"

"धन्य हो तुम, धन्य हैं सहगामिनियाँ तुम्हारी ये सभी,
धन्य श्रम है वह तुम्हारा, निस्पृह हो जो तुमने सहा।
तुम हो जगन्नायिका, जगदोधारिणी, जयवाहिनी" —
सुरपति ने शची-पदों में निज मस्तक नवाकर कहा॥

अति संकुचिता शची ने हटा लिए चरण-युगल निज,
उठा पुरंदर को, झुक काँपती वें बोलीं भावातिरेक से —
"अहह! प्रियतम, इस महत्तम काज की सिद्धि में,
आयास अल्प अति मेरे, संभव न था यह मुझ एक से॥"

"जैसे पुष्पिता लता की लक्ष्यित होती नहीं मूल है,
वैसे ही मूल मेरी सहचरियाँ ये, जिन्हें करते आप अनदेखा।
इनकी अटल श्रद्धा-धारा से ही तो ज्वलित रहा साहस-दीप मेरा,
इनके ही विश्वास से परिवर्तित हुई लोक की भाग्यरेखा॥"

"फिर, जो न होतीं द्रवित मातृशक्ति हम साधनहीनों पर,
जो करतीं न वे निज अहैतुकी करुणामृत-वर्षण।
तो कहाँ संभव था इस दुर्दांत लोकपीड़क का दमन?
देते हो जो विमल कीर्ति, करती हूँ उनको ही मैं अर्पण॥"

सुनकर ऐंद्री कथित विनय-वचनावली, बोले विबुधवर—
"सरल है होना विकारवियुक्त, त्यागना सकामता को भी।
प्रिये! कीर्ति की प्रबल इच्छा परंतु है दुर्निवार अतीव,
व्याकुल करती है निरंतर यह यतेन्द्र-यूथ-चित्त को भी॥"

"मृषालाप, छद्म-कलाप हैं यशेच्छु जीव कितना रचता,
कुढ़न और छटपटाहट कितनी, कितना ही दुष्तर द्वेषण।
है चाहता करना निज विरद का सर्व रसना से श्रवण—
है प्राणी-मात्र में केवल एक इस उत्कंठा के ही कारण॥"

"अमल अमर कीर्ति को पाकर, होना चाहते अमर सकल,
निज मरणधर्मिता की औषधि-सी होती यह है प्रतीत।
त्यागने में समर्थ है इस सुमधुर आसव को जो जग में,
है वही प्रबुद्ध, सिद्ध — प्राप्य है उसी को सत्य नवनीत॥"

"महती सिद्धि-लब्धा इस कीर्ति से अनायास अरति तुम्हारी,
वंद्या है विबुध निकाय के लिए सदा, अयि! अमरेश्वरी।"
प्रशस्ति पुनि कर पविपाणि यूं करने लगे जयघोष तब,
कर अनुकरण उनका अजर-प्रसर ने भी जयकार करी॥

अनुगूंजायमाना थीं सकल दिशाएं जय-जय स्वन से,
नत-नयना नाकेशप्रिया थीं खड़ीं संकुचिता कलि-सम।
तब सहसा सुदारुण स्वर हलाहल-कल्प कोई उठ-उठ,
मिलने लगा इस श्रवणामृत सिंधु में अमंगल-सरि सम॥

फिर गईं चितवने सबकी, स्वनोद्गम होता था जहाँ से,
था वहाँ महिषवधु-समूह प्रस्तुत, महिष-कबंध को कर छादित।
केतु-ग्रस्त विधु के समान थे विधुरित वदन उनके,
कुरंगनयनों से होता स्राव, होतीं श्वासें पुनि-पुनि थीं बाधित॥

कबंध के कर-प्रपद पकड़े, लगाती निज छाती से थी कोई,
स्पंदनहीन उर पर धर निज शिर, कोई भरती थी सिसकियाँ।
पड़ी कोई मुक्तकेशा, चीर्णवासा, कर्दम में बिसार देह दशा,
"हा हा हन्त! हा कन्त!" कह-कह, कोई भरती थी हिचकियाँ॥

जैसे श्रय-तरुवर के भूशायी होने पर गिर जाता है,
सघन वल्लिका-संकुल लिपटकर उसके आयत कलेवर से।
वैसे ही विहरज-संताप-कर्शित-कलेवरा यातुवधुएँ सकल,
लिपटकर विलपती थीं, स्पंदनहीन दैत्यवर से॥

इस हृदयविदारक दृश्य को स्तम्भित हो देखते थे सभी,
मानो विधि ने ला दिया हो गतदर्शक मुकुर ही समक्ष।
तब सहसा उन अनाथाओं के मध्य से, गहे महिष-मुंड को,
दैत्य-महिषी गर्विता गम्भीरा, आ हुई खड़ी शची के प्रत्यक्ष॥

बोलीं पटक उस गलद्रक्त भयमुद्रित मुंड को शची-पदों में —
"करुणानिधे जगन्नाथा को है इस अनाथा का प्रणाम।
जाती हूँ बलिहार आपकी इस दिग्विजय पर अहो! शची —
जिसने कर दिए हैं सूने नगर सकल और जीवनहीन धाम॥"

"थे जो वसंत से जीवंत, जिनके रुधिर में थी कभी उष्णता,
देखिए पड़े हैं कैसे वे मज्जा-मांस-पंक में ठंडे शव बनकर।
यह कैसी है विजय आपकी? है कैसा लोकहित यह—
जिससे सिसकते हैं अगणित बाल, निज तात को टेर-टेर कर॥"

"संसार-अरण्य का कर सिंचन, हम निराश्रिता नलिनी का कर उन्मूलन —
जग-खर आतप में तपने छोड़ दिया है आपने।
आलोकित चौदह भुवनों को करने, हा! आर्ये!
क्यों हमारे भवनों को प्रघोर-तम-प्लावित कर दिया है आपने?"

“कैसे तुम सब, कैसे! सो सकोगी सुमन सुपेशल शयनों पर,
जब हम पड़ी रहेंगी भू पर, दलित-फणा नागिनी की भाँति?
कैसे तुम सब, कैसे! विलसोगी प्रिय-उत्संग का सुख,
जब हम रोएंगी मुख फेर, रात भर निज शिशुओं से?”

“रहोगी सज्जित तुम नववधू समान सदा वहाँ,
और यहाँ हम रहेंगी जलती निरंतर किसी जीवित चिता के समान।
रहेगा छाया मधु-ऋतु तुम पर, पर हमारी तो तपेगी छाती निदाघ सम,
पावस से बरसेंगे दृग, रहेगा शिशिर-शशि सम मुख म्लान॥“

“देखो, ये अंचल हमारे, जो थे सौभाग्य-सुमन परिपूरित कभी,
आज हमारे ही प्राणेश के कृष्ण रुधिर से हैं कैसे सने।
यह कैसा न्याय कराया आपने मातृशक्ति से?
जिसमें निहित है निघोर अन्याय और विघटन हमारा क्षणे-क्षणे॥”

“निज पुरुषार्थ-बल पर अर्जित किया दनुवंशियों ने जो भी,
द्वेषी देवों ने सदैव छल से उसका किया है हरण हमसे।
है हमारा न्यायकारी ईश कौन, धरे जो अंध इव पक्ष हमारा?
तुम्हारी भाँति करें विलाप हम, लोट-लोट आगे जिसके?”

“नहीं, तुम कल्याणी देवी नहीं — हो किसी दानवी से भी क्रूरकर्मिणी,
नहीं हो तुम तपस्विनी — हो निज स्वामी-स्वार्थ-परायण।
धिक्कार है, धिक्कार बार-बार ऐ पौलोमी तुझे!
कुटुम्ब स्वार्थ में अंधी तू, कैकयी सम, है किल्बिषयुत तेरा मन॥”

“देखो स्वार्थलीन शतनेत्र को — विजय वश फूले समाते हैं नहीं,
मत्त मयूर सम नाच-नाच करते हैं तेरा यश-गान।
क्या प्रशंसा-मुग्ध हो भूल गयी तुम इनके उन कृत्यों को —
जिन्होंने दिया है बहुधा तुम्हें भूत में संताप महान?”

यूं कहती थीं महिषी आवेश वश अनवरत अति कटूक्तियां,
चित्र-लिखित-सी पौलोमी स्पंदनहीना हों सुनतीं रहीं।
तब गंभीर गिरा में वज्रधर बोले, तने सहस्त्र अम्बक थे,
"मष्ट कर अब महिषि! यूं तेरी वाचालता कदापि उचित नहीं॥"

"युद्ध-क्षेत्र में हुआ कोई अन्याय नहीं, यथासमय फलित हुए,
कुकृत्य तेरे प्रियतम के ही, हो अप्रिय पर है यथार्थ यही।
लोकहित के लिए सज्जनों का भी हुआ करता बलिदान है,
लोकपीड़क महिषासुर की नियति है समुचित यही॥"

"देतें हैं सबांधव अभयवर तुझको, करेंगें क्षतिपूर्ति तेरी,
वैभवशालिनी महिषपुरी की अधिकारिणी रहेगी तू ही।
हो भय तुझे जो कदाचित शत्रु-समूह या निज बंधु-कौटिल्य से,
तो देता हूं परित्राण तुझे, रहेगा राज्य तेरा यूं ही॥"

"जो लोक वैधव्य मर्यादा से, क्षुभित होता हो मन तेरा,
तो सकल मर्यादा-वर्जित नाक-लोक में रह आकर।
अमरावती सदृश नव नगरी का निर्माण करूंगा तेरे लिए,
निस्संकोच हो कह दो, हो जो कोई प्रस्तावना अपर।।"

कठिन नीति भरित सुराधिप वचन सुने महिषी ने ज्यों,
वात-वर्धित दावा सम, शतगुणित हुआ महिषी खर-अमर्ष।
"जीता था त्रिलोक को निज भुजदंड बल पर स्वामी ने,
मिला न था खैरात में, जैसे सुरेश आपको मिला स्वर्ग उत्कर्ष।।"

"कौन पा सत्ता और शक्ति, हुआ नहीं मदांध त्रिलोक में?
किसने हो दर्पमुग्ध अनाचार लोक में किया नहीं?
क्या इस दोष से मुक्त हो सुरेश आप भी?
तो क्यों मिला दंड यह कठोरतम, इस दीना के जीवनाधार को ही?"

"नीति के वचन शोभते नहीं शक्र, आपके वक्त्र से,
यदि पाई होती जय तुमने निज बल-बुद्धि-वैभव पर।
तो जल्पती न वचन एक विरोध में, करती प्रशस्ति अपितु,
किंतु स्वावलम्बी को जीता आपने अतिबल श्रय लेकर॥"

"जैसे जीत सके न वीर्यहीन सियार सिंह को निज बल से,
तब कायर की भांति है पड़ता वारण चरण शरण में।
वैसे ही तुम चाटुकारियों ने करी संधि नग-नंदिनी से,
जब जीत सके न तुम कापुरुष हमारे स्वामी से रण में॥"

"दोगे क्या अभयवर सुरेश्वर उस दनुवंशजा को तुम,
जिसके बाहुद्वय में है सहस्त्र सुरों को जीतने का सामर्थ्य?
जिसके नवजात के क्रंदन से ही, डरते प्राणी दिगंत पर्यंत,
यह कौटिल्यपूर्ण करुणा तव है हमारे लिए सर्वथा अपार्थ्य॥"

“हो अंध सहस्त्राक्ष तुम, पवि सम है जड़ित आत्मा त्वदीया,
जो चाहते मुझ मनस्विनी को अपने तुच्छ वैभव से लुभाना।
मैं हूं दैत्येश्वरी, स्वर्ग की सामान्य अप्सरा नहीं,
जो रीझती हो मणि-महलों पर, हो संभव जिसे मृदु वचनों से बहकाना!”

“होगा युद्ध याग पुनि पुरंदर अब, होंगी अरणी जिसकी मैं,
तब कर पाएंगे नहीं वे पक्षधर कश्चित तुम्हारा परित्राण।
कर अनहित सिंहिनी का रह पाओगे अनाहत कदापि नहीं,
अवश्य-अवश्य तुझको मांगना पड़ेगा मुझसे गिड़गिड़ाकर प्राण-दान॥”

निर्भीत उद्घोषणा कर यूं छा गयी महिषी पर निस्तब्धता,
चंड मार्तंड से ज्वलित थे लोहित-वदन तथा लोचन-आयत।
रोष श्वास से प्रकंपित होता था क्लांत अधर-पल्लव,
थे स्वेदन-कण झरते कंपायमान कलेवर से अनवरत॥

तत्काल भविष्यत् महासंहार की नींव धरे जाता देखकर,
परमाकुला पौलोमी ने की कर जोड़ कर सुकरुण पुकार।
"अयि सौम्ये! करिये न अपर-युद्ध का आह्वान आप अब,
मिलेगा न अश्रु और असृक के अलावा कुछ इस प्रकार॥"

"अगर रण में बहाने से रुधिर और वैधव्य देवांगनाओं को देने से,
अनुप्राणित हो उठें दैत्यवर, तो हैं प्रस्तुत देव इसके लिए अभी।
हुआ विप्रिय जो भी आपका, वह था लोकरक्षण हेतु ही,
उसमें विनिहित नहीं था कदापि स्वार्थ हमारा कोई कभी॥"

"देवी! जन्य में पा लाने से विजय मिटेगी नहीं मन की रुग्णता,
रण-व्रण पूर्ववत् हो सकेंगे नहीं, फिर है लाभ तब क्या?
सौभाग्यहीन कर हमाको, सुर शवों से पाट कर भी भू को,
रहेगा प्रश्न एक आपकी आत्मा को झकझोरता – अब क्या?"

“अपूर्व पीड़ाक्त है सुकांत हृदय आपका जिससे,
सुरेन्द्र की सहानुभूति भी व्याज-रचना मात्र लगती है आपको।
क्षतिपूर्ति आपकी कस्यापि साधन से संभव नहीं कदापि,
है नहीं जग में कुछ जो, मिटा सके विरही के उर ताप को॥”

“अनंत वित्त-वैभव भी नहीं कर सकता पूर्ति एक प्राण की,
हैं खो दिया जो आपने, ईश्वरत्व भी नहीं उसके समकक्ष।
है किंतु हे मनस्विनी! दुःखालय अशाश्वत जगत यह,
हित में भी अहित निहित होता सदा, यह है सबके समक्ष॥”

“मृत्यु किसी की है, जीवन किसी का;
किसी की दृगनीर-धार से ही सिंचित हो, हरित होता हृदय किसी का।
रहो न अमर्ष के अंगार पकड़े, भामिनि! स्वमेव विचार कर,
है क्रोधाग्नि से भरा जो, जलता हृदय तल प्रथम उसी का॥”

"वैर-भाव को त्याग कर सम्भालिए अब निज प्रजा को,
आपके समान ही होंगे वो दुस्तर शोक सिंधु में अवसन्न।
हुआ है जो अनिष्ट उनका, प्रतिशोध से क्या वह अकृत होगा?
बढ़ेगा इससे उनके हृदय का शून्य, बस होगे और आपन्न॥"

"प्रचंड द्वेष अनल जो है, जलाता अनवरत आपकी आत्मा को,
प्रतिशोध से नहीं, बोध से ही संभव है उपशमन उसका।
तदपि जो अन्याय ही भासित होता हो आपको,
तो मैं विधवावत् रहूंगी संग आपके, स्वीकार कैंकर्य आपका॥"

"करिये इस किंकरी पर करुणा, आर्ये! रण-प्रण त्याग दीजिए!"
साशंस क्लिन्न विलोचन-द्वय हो गये महिषी वदन केंद्रित।
सुन विनीत वचन यह महिषी उर द्रवित अति हो चला,
सघन हिम मूर्ति चली बनकर करुण धारा हो तरलित॥

सहसा लिपट गयीं वे पौलोमी से, निराश्रिता लतिका इव,
फूट पड़ा दुर्दग्ध आत्मा से दारुण रोदन स्वर – हा हा!
द्रवित दृग युग से छूट चली, चिर-संचित वेदना की धारा,
क्रोध-अनल का लेश जिसके स्पर्श से न रहा॥

"हा! देखो मुझ मूर्खा को, जड़ता कैसी थी मुझ पर छा चली,
स्वार्थवश मैं हो गयी थी उचित-अनुचित के बोध से रहित।
दैत्यराज ने जो किया, उसका फल उचित ही है पाया,
दर्प-मद से अंध हो उन्होंने किया प्राणी-मात्र को पीड़ित॥"

"यद्यपि सुनती थी निरीह जीवों की तीव्र चीखें,
शिशुओं का करुण क्रंदन, तदपि सुना अनसुना चिरकाल तक करती रही।
बनी रही बहरी मत्त हो गौरव-विलास में, अब प्रारब्ध वश,
वही गति जो हुई है मेरी, तो यह छटपटाहट उचित कदापि नहीं॥"

“निज शोक से ही अतिक्रांत हो गयी मति मेरी थी,
पुनरपि दुःख दे आपको चिरसुखित मैं हो सकूंगी कदापि नहीं।
हैं सत्य कहतीं आप जयवाहिनि! गम्य शांति क्षमा से ही,
समय यह है मांगता अहं-समर्पण, पुनि भीषण रण नहीं॥”

सम्भाल स्वयं को कृतांजलियुत बोलीं महिषी सादर अनंतर,
“जिस तितिक्षा और करुणा से समलंकृता आप हैं।
चतुर्दश-भुवन में कर सकता कौन है उसकी समकक्षता?
तव उरस्था क्षान्ति ईशावतारों में भी सुदुराप है॥”

“दावा को कर दे जो चंद्ररुचि सरीखा,
हो जाये शमित सिंधु-उर-ज्वाला जिसके संस्पर्श से।
हो जाये नत-फण महोरग आगे जिसके,
क्रूर केहरी भी वत्स सम बन जाये जिसके दर्श से॥”

“छूट जाये रिपु-हस्त से खरायुध आप ही,
देख करुणार्द्र लोचन जिसके, वह करुणा-विग्रह आप हैं।
जिसके वदन-विधु-वचन-पीयूष-वर्षण से मिटता आशु उर संताप,
वह करुणा-विग्रह आप हैं॥”

“अहो! अमृत-वाक्पयस्विनी आप, म्लान आत्मा-लता—
हो जाये जिससे पुनि कुसुमिता-मंजरिता-पल्लविता।“
लौट गयीं तब निज नगरी, महिषी सपत्नीयों समेत यथा,
लौट चली हो जीवन-वाहिनी बन कोई भीषणा सरिता॥

आगत आपदा को सहज ही टलती देख,
मुखर सुरवृंद करने लगे प्रबलतर जय-जयकार।
तब सहस्त्राक्ष ने निज प्रेमामृतपूरिता दृष्टि से ही,
व्यक्त कर दिया निज हृदय-भाव-सार॥

ततः देवों ने किया आह्वानित निज कामग विमानों को।
करने लगे हतप्रभ दिनमणि को सहज ही निज तेज से जो॥
अवतीर्ण होते थे वे शस्य-श्यामल विश्वम्भरा तल पर ऐसे।
सज्जित नभोगजों को अंकुशित कर ले आया हो कोई जैसे॥

उनके दिव्य तेज से संकुचित होते सुरयोषाओं के लोचन।
देव-देवांगनाओं के समासीन होते ही वे करने लगे विमानन॥
मेखला-नूपुर मिश्र मधुर घोष से होता अनंत अनुगूंजायमान।
विमानों के क्षिप्रगमन से देव कलेवर होने लगे कम्पायमान॥

गगनस्थ हो देखते देव सकल हिमगिरि को, देते थे साधुवाद।
दिखातीं थीं देवांगनाएं देवों को तपस्थली और कैलास-पाद॥
विबुध-मिथुन विनोद-घोष श्रवण कर सजीव हो उठी अदिति तत्काल।
क्षणांश में ही तब हो गया दृष्टि अगोचर वह विचित्र विमान-जाल॥

काव्यानुभूति

कोई भी रचना केवल रचना नहीं होती, उसके पीछे एक भीषण प्रलय सन्निहित होता है। अनगिनत अश्रु और अव्यक्त पीड़ाएँ उसमें समाहित होती हैं। इस काव्य की रचना के पश्चात् मेरी यही अनुभूति रही। इस रचना ने मेरी कला को देखने के दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है। कलाकार कितने आत्मसंदेह को सहन करता है, इसका वास्तविक बोध मुझे इसी रचना के माध्यम से हुआ।

प्रारंभ में कला आत्माभिव्यक्ति का साधन प्रतीत होती है—एक आनंददायिनी प्रक्रिया। परंतु समय के साथ कला का एक विभत्स और अप्रत्याशित स्वरूप प्रकट होता है, जिसमें असंतोष, शंका, जलन, छटपटाहट और अकेलापन होता है। इस अवस्था में कलाकार स्वयं को निरंतर परीक्षा में पाता है, जिससे उसे स्वयं ही उबरना पड़ता है।

इस काव्य की रचना मैंने बिना किसी पूर्वविचार के आरंभ की थी। प्रारंभिक पंक्तियाँ सहज रूप से लिखी गईं, परंतु इसकी दिशा का कोई निश्चित विचार मेरे मन में नहीं था। इसी कारण मुझे कई स्थानों पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इससे पूर्व मेरी काव्य-रचना ब्रज और अवधी में ही हुई थी, जिनमें मेरी गति स्वाभाविक थी। हिंदी में लिखने का प्रयास एक नई चुनौती थी; गूढ़ भावों को व्यक्त करने में असमर्थता मेरे लिए एक बड़ी बाधा बन गई। प्रारंभ में सब कुछ सतही प्रतीत हो रहा था, परंतु शनैः-शनैः हिंदी पर मेरा अधिकार स्थापित हुआ और हृदयगत भाव लेखनी के माध्यम से काव्य में प्रतिफलित होने लगे।

किन्तु तब भी मेरा अंतर्मन शंकाग्रस्त रहा। प्रत्येक पंक्ति पर संदेह होता कि क्या यह उचित है? मैं काव्य-आलोचना और गुण-दोष के चिंतन में इतना उलझ गया कि रचना का आनंद कब लुप्त हो गया, इसका आभास ही न हुआ। एक खिन्नता हृदय में व्याप्त होती रही। मेरी विवशता ने मन को कुंठित कर दिया। कर्गद और अक्षर हृदय को विचलित मात्र करते थे। उनकी आनंद प्रसव करने की शक्ति तो न जाने

कहां लुप्त हो गयी थी। लेखन एक नीरस और बोझिल प्रक्रिया बन गया। बारंबार ऐसा प्रतीत हुआ मानो काव्य-कामिनी मेरा निपीड़न कर रही हो। मुझे मेरी सक्षमता पर क्षण-क्षण संदेह होता था। मेरे अधरों से बार-बार निकलता— "कत पीड़त मोही काव्य-कामिनी!" यह संघर्ष रचनांत तक बना रहा। अंततः, जब मैंने इस काव्य को पूर्ण किया, तब काव्य-कामिनी ने मुझे अनुराग से भरकर अपना आलिंगन दिया— "अब मोहि आलिंगन दीन्हो।"

इस रचना के पूर्ण होने पर मेरे नयन अश्रुपूरित हो गए। मैंने अपनी समस्त साधना, अपनी सम्पूर्ण भाव-संपदा इस काव्य में समर्पित कर दी। किन्तु इसके पश्चात् भी मैं हर्षित था, क्योंकि अपना सर्वस्व अर्पित कर भी मैंने सब कुछ पा लिया था— "तस्मिन् पते निजं सर्वं, समर्प्य सर्वमाप्नुहि।"

इस काव्य-रचना में मैंने अनेक अनुभूतियाँ अर्जित कीं। मैंने शची को पराजित इंद्र के नयनों से देखा, उसकी व्यथा को आत्मसात किया। देवांगनाओं की श्रांति को अपने ही शरीर में अनुभव किया। साधनों की निराशा और शची के हताश मुख को देख पाया। देवी के समक्ष अबला की भाँति मुक्तकंठ से प्रार्थना की। महिषासुरादि के वध पर मेरे रोमांचित हुए, मुख रक्ताभ हुआ, और हृदय में युयुत्सा जाग्रत हुई।

किन्तु जब महिषी के नेत्रों से मैंने समरभूमि को देखा, तो मेरा हृदय कंपायमान हो उठा। एक गहन ग्लानि का संचार हुआ। जिस युद्ध के लिए मैं शची के रूप में उत्साहित था, जिस विजय के लिए दुर्गा के रूप में दैत्यों का संहार किया, उसी पर अब मन ग्लानि से भर उठा। जिस महिषासुर को सपरिवार कालगर्त में प्रवाहित कर देना चाहता था, उसी के शिशुओं की कल्पना मात्र से मेरे नेत्र अश्रुपूरित हो गए। हृदय में अदम्य कंपन होने लगा, और मैं स्वयं से प्रश्न करने लगा— "यह मैंने क्या कर दिया?"

वास्तव में, मैंने महिषी के साथ अन्याय किया। उसके प्रभावशाली और ज्वलंत व्यक्तित्व को शची के चरणों में अर्पित कर, उसे शची की अनुगामिनी मात्र बना दिया। यह काव्य की गति बनाए रखने की मेरी विवशता थी।

इस अनुभूति के अतिरिक्त एक स्वीकृति भी है— काव्य के प्रथम सर्ग में प्रेम के दो पक्ष परिलक्षित होते हैं। एक पक्ष शची का है, जो समर्पण में ही संतुष्ट हैं, जिसके लिए प्रेम ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। दूसरा पक्ष इंद्र का है, जो प्रेम के साथ-साथ अन्य इच्छाओं से भी बंधे हैं। यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, किंतु काव्य या पात्र इसे प्रत्यक्ष रूप से संबोधित नहीं करते।

इसका कारण यह है कि मैंने प्रथम सर्ग को इंद्र के विलाप तक लिखकर छोड़ दिया था और सम्पूर्ण कृति के अंत में ही इसे पूर्ण किया। इस क्रम के कारण काव्य को इस प्रश्न की पृष्ठभूमि विकसित करने का अवसर नहीं मिला, और यह विषय स्वयं ही अनुत्तरित रह गया। परिणामस्वरूप, अंतिम सर्ग में इंद्र केवल शची की सामान्य प्रशंसा करते हैं। यदि मैंने प्रथम सर्ग को पहले ही संपूर्ण रूप में लिखा होता, तो यह प्रशंसा सामान्य न होकर इस द्वंद्व को स्पष्ट रूप से संबोधित कर सकती थी। इससे इंद्र और शची के संवाद को भी अधिक गहराई मिलती।

मैं चाहता तो प्रथम या अंतिम सर्ग में परिवर्तन कर सकता था, किंतु मैंने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। रचना के आरंभ में मेरा लक्ष्य पूर्णता और सर्वश्रेष्ठता था, किंतु अंत तक आते-आते मैंने अपनी अपूर्णता को स्वीकार कर लिया। मैंने समझ लिया कि इस विकृति (अपूर्णता) में भी एक स्वाभाविक सौंदर्य है, और मैं उसी का अन्वेषण करने लगा। ''विकृति एवम् प्रकृति''—अर्थात् जो विकृत है, वही प्रकृति का अंग भी है। यही स्वीकार करने से सृजन में सहजता आती है और रचनाकार का बंधन टूटता है।

इस क्षण मुझे लियोनार्डो दा विंची की वह पंक्ति स्मरण हो रही है—''कला कभी पूर्ण नहीं होती, केवल त्याग दी जाती है।'' इस काव्य-लेखन में मेरे द्वारा किए गए अन्याय को देखकर मुझे इस वाक्य का गूढ़ अर्थ समझ आया। यह रचना केवल एक काव्य नहीं, बल्कि मेरी आत्मा की अभिव्यक्ति है—संघर्ष और साधना की एक अनूठी यात्रा।